

**TEXT FLY WITHIN
THE BOOK ONLY**

**TIGHT BINGING
BOOK**

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182098

UNIVERSAL
LIBRARY

Osmania University Library

Call No. ^H81

Accession No. ^H384

PHK

Author

यशवन्त शिंदे

Title

महामात्री

This book should be returned on or before the date last
indicated below.

आशा

उषा सुनहले तीर बरसती

जय - लक्ष्मी - सी उदित हुई ;

उधर पराजित काल - रात्रि भी

जल में अंतर्निहित हुई ।

वह विवर्ण मुख त्रस्त प्रकृति का

आज लगा हँसने फिर से ;

वर्षा बीती, हुआ सृष्टि में

शरद विकास नये सिर से ।

नव कोमल आलोक बिखरता

हिम संसृति पर भर अनुराग ;

सित सरोज पर क्रीड़ा करता

जैसे मधुमय पिंग पराग ।

धीरे धीरे हिम - आच्छादन

हटने लगा घरातल से ;

जगी वनस्पतियाँ अलसाई

मुख धोती शीतल जल से ।

नेत्र निमीलन करती मानो

प्रकृति प्रबुद्ध लगी होने ;

जलधि लहरियों की अँगड़ाई

बार बार जाती सोने ।

* सिधु सेज पर धरा वधू अब
तनिक संकुचित बैठी - सी ;

प्रलय निशा की हलचल स्मृति में

मान किये - सी ऐंठी - सी ।

देखा मनु ने वह अति रंजित
विजय जगत है । विजय विश्व का नव एकांत ;

जैसे कोलाहल सोया हो

हिम शीतल जड़ता - सा अंत ।

इंद्रनील मणि महा चषक था

सोम रहित उलटा लटका ;

आज पवन मृदु साँस ले रहा

जैसे बीत गया खटका ।

वह विराट् था हेम घोलता

नया रंग भरने को आज ;

कौन ? हुआ यह प्रश्न अचानक

और कुतूहल का था राज ।

आश्वदेवता

‘ विश्वदेव, सविता या पूषा
विश्वदेवता सोम, मरुत, चंचल पवमान ;
वरुण आदि सब घूम रहे हैं
किसके शासन में अम्लान ?

(1) विष्णु शक्ति
(2) विष्णु शक्ति

किसका था भ्रू-भंग प्रलय - सा
जिसमें ये सब विकल रहे ;
अरे ! प्रकृति के शक्ति-चिह्न ये
फिर भी कितने निबल रहे !

विकल हुआ सा काँप रहा था,
सकल भूत चेतन समुदाय ;
उनकी कैसी बुरी दशा थी
वे थे विवश और निरुपाय ।

देव न थे हम और न ये हैं ,
सब परिवर्तन के पुतले ;
हाँ, कि गर्व-रथ में तुरंग-सा प्राड
जितना जो चाहे जुत ले ।

“महा नील इस परम व्योम में,
 अंतरिक्ष में ज्योतिर्मान,
 ग्रह, नक्षत्र और विद्युत्कण
 किसका करते - से संधान? ठूँडा

छिप जाते हैं और निकलते
 आकर्षण में खिंचे हुए;
 कर्ता ^{कला} ~~हैं~~ तृण वीरुध लहलहे हो रहे
 क्षास ^{हैं} ~~हैं~~ किसके रस से सिंचे हुए?

सिर नीचा कर किसकी सत्ता
 सब करते स्वीकार यहाँ;
 सदा मौन हो प्रवचन करते
 जिसका, वह अस्तित्व कहौं?

हे अनन्त रमणीय ! कौन तुम ?
 यह मैं कैसे कह सकता ।
 कैसे हो ? क्या हो ? इसका तो
 भार विचार न सह सकता ।

हे विराट् ! हे विश्वदेव ! तुम ^{रिख जाय} ~~रिख जाय~~
 कुछ हो ऐसा होता भान—
 मंद गँभीर धीर स्वर संयुत
 यही कर रहा सागर गान ।

“ यह क्या मधुर-स्वप्न-सी झिलमिल,
 सदय हृदय में अधिक अधीर ;
 व्याकुलता-सी व्यक्त हो रही
 आशा बनकर प्राण समीर !
 यह कितनी स्पृहणीय बन गई
 मधुर जागरण - सी छविमान ;
 स्मिति की लहरों-सी उठती है
 नाच रही ज्यों मधुमय तान ।
 जीवन ! जीवन ! की पुकार है
 खेल रहा है शीतल दाह ;
 किसके चरणों में नत होता
 नव प्रभात का शुभ उत्साह ।
 मैं हूँ, यह वरदान सदृश क्यों
 लगा गूँजने कानों में !
 मैं भी कहने लगा, ‘ मैं रहूँ ’
 शाश्वत नभ के गानों में ।

यह संकेत कर रही सत्ता
 किसकी सरल विकास - मयी ;
 जीवन की लालसा आज क्यों
 इतनी प्रखर विलास - मयी ?
 तो फिर क्या मैं जिऊँ और भी,—
 जीकर क्या करना होगा ?
 देव ! बता दो, अमर वेदना
 लेकर कब मरना होगा ?”

एक यवनिका हटी, पवन से
 प्रेरित माया पट जैसी ;
 और आवरण - मुक्त प्रकृति थीं
 हरी भरी फिर भी वैसी ।

स्वर्ण शालियों की कलमें थीं
 दूर - दूर तक फैल रही ;
 शरद इंदिरा के मंदिर की
 मानो कोई गैल रही ।

मनन किया करते वे बैठे
ज्वलित अग्नि के पास वहीं ;
एक सजीव तपस्या जैसे
पतझड़ में कर वास रहो । निवास

फिर भी धड़कन कभी हृदय में
होती, चिंता कभी नवीन ;
यों ही लगा बीतने उनका
जीवन अस्थिर दिन-दिन दीन ।

प्रश्न उपस्थित नित्य नये थे
अंधकार की माया में ;
रंग बदलते जो पल-पल में
उस विराट् की छाया में ।

अर्ध प्रस्फुटित उत्तर मिलते
प्रकृति सकर्मक रही समस्त ; ५.५ के साथ
निज अस्तित्व बना रखने में
जीवन आज हुआ था व्यस्त ।

मार्ग 'तप में निरत हुए मनु, नियमित—
कर्म लगे अपना करने ;
विश्व रंग में कर्मजाल के
सूत्र लगे घन हो घिरने । ५.१५

उस एकांत नियति शासन में
 चले विवश धीरे - धीरे ;
 एक शांत स्पंदन लहरों का
 होता ज्यों सागर तारि ।

R.S.
 नियति
 वाद मम

विजन जगत की तंद्रा में विद्रा, राता, अक्षर
 तब चलता था सूना सपना ;
 ग्रह पथ के आलोक वृत्त से
 कास्त जाल तनता अपना ।

ग्रहर दिवस रजनी आती थी
 चल जाती संदेश-विहीन ;
 एक विराग-पूर्ण संसृति में
 ज्यों निष्फल आरंभ नवीन ।

धवल मनाहर चंद्र-बिम्ब से
 अंकित सुन्दर स्वच्छ निशीथ ; 1/2 N.Y. 4
 जिसमें शीतल पवन गा रहा
 पुलकित हों पावन उद्गीथ ।

नीचे दूर दूर विस्तृत था
 उर्मिल सागर व्यथित अधीर ;
 अंतरिक्ष में व्यस्त उसी सा
 रहा चंद्रिका - निधि गंभीर । याँट

खुली उसी रमणीय दृश्य में
 अलस चेतना की आँखें ;
 हृदय कुसुम की खिली अचानक
 मधु से वे भीगी पाँखें ।

व्यक्त नील में चल् प्रकाश का
 कंपन सुख बन बजता था ;
 एक अतीन्द्रिय स्वप्न लोक का
 मधुर रहस्य उलभता था ।

नव हो जगी अनादि वासना
 मधुर प्राकृतिक भूख समान ;
 चिर परिचित-सा चाह रहा था
 द्रंद्र सुखद करके अनुमान ।

दिव्य रात्रि या—मित्र वरुण की जल-देवता
 बाला का अक्षय शृङ्गार ;
 मिलन लगा हँसने जीवन के
 उर्मिल सागर के उस पार ।

तप से संयम का संचित बल
 तृपित और व्याकुल था आज ;
 अट्टहास कर उठा रिक्त का
 वह अधीर तम, सूना राज ।

धीर समीर परस से पुलकित
 विकल हो चला श्रान्त शरीर ;
आशा की उलझी अलकों से
उठी लहर मधुगंध अधीर ।

R-c

मनु का मन था विकल हो उठा
 संवेदन से खाकर चोट ;
 संवेदन ! जीवन जगती को
 जो कटुता से देता घोट ।

“आह ! कल्पना का सुन्दर यह
जगत मधुर कितना होता !
सुख-स्वप्नों का दल, छाया में
पुलकित हो जगता-सोता ।

संवेदन का और हृदय का
यह संघर्ष न हो सकता ;
फिर अभाव असफलताओं की
गाथा कौन कहाँ बकता !

कब तक और अकेले ? कह दो
हे मेरे जीवन बोलो ?
किसे सुनाऊँ कथा ? कहो मत,
अपनी निधि न व्यर्थ खोलो !

“तम के सुन्दरतम रहस्य, हे
कांति किरण रंजित तारा !
व्यथित विश्व के सात्विक शीतल
विंदु, भरै नव रस सारा ।

आतप-तापित जीवन-सुख की
 शांतिमयी छाया के देश ,
 हे अनंत की गणना ! देते
 तुम कितना मधुमय संदेश !

आह शून्यते ! चुप होने में
 तू क्यों इतनी चतुर हुई ;
 इंद्रजाल-जननी ! रजनी तू
 क्यों अब इतनी मधुर हुई ?

“जब कामना सिधु तट आई
 ले संध्या का तारा दीप ,
 फाड़ सुनहली साड़ी उसकी
 तू हँसती क्यों अरी प्रतीप ?

इस अनंत काले शासन का
 वह जब उच्छ्वल इतिहास ,
 ‘आँसू आँ’ तम घोल लिख रही
 तू सहसा करती मृदु हास ।

विश्व कमल की मृदुल मधुकरी ^{प्र} ~~प्र~~
 रजनी तू किस कोने से—
 आती चूम-चूम चल जाती
 पढ़ी हुई किस टोने से।

किस दिगंत रेखा में इतनी
 संचित कर सिसकी-सी सोंग,
 यों समीर मिस होंफ रही-सी
 चली जा रही किसके पाम।

विकल खिलखिलाती है क्यों तू ?
 इतनी हँसी न व्यर्थ विग्वेह :
 तुहिन कणों, फेनिल लहरों में,
 मच जावेगी फिर अंधेर।

धूँघट उठा देख मुसक्याती
 किसे ठिठकती-सी आती ;
 विजन गगन में किसी भूल-सी
 किसको स्मृति-पथ में लाती।

रजत कुसुम के नव पगाग-सी
 उड़ा न दे तू इतनी धूल ;
 इस ज्योत्स्ना की, अरी बावली !
 तू इसमें जावेगी भूल।

पगली हों सगहल ले कैसे
 छूट पड़ा तेरा अंचल
 अंशुवारि देख, विखरती है मणिराजी
 अरी उठा बेसुध चंचल

फटा हुआ था नील वसन क्या
 ओ यौवन की मतवाली !
 देख अकिंचन जगत लूटता
 तेरी छवि भोली-भाली ।

ऐसे अतुल अनंत विभव में
 जाग पड़ा क्यों तीव्र विराग ?
 या भूली-सी खोज रही कुछ
 जीवन की छाती के दाग !

! “मैं भी भूल गया हूँ कुछ,
 हों स्मरण नहीं होता, क्या था !
 प्रेम, वेदना, भ्रांति या कि क्या ?
 मन जिसमें सुख सोता था !

मिले कहीं वह पड़ा अचानक ●
 उसको भी न लुटा देना ;
 देख तुझे भी दूँगा तेरा
 भाग, न उसे भुला देना !

श्रद्धा

“कौन तुम ? संसृति-जलनिधि तीर

तरंगों से फेंकी मणि एक ,
कर रहे निर्जन का चुपचाप
प्रभा की धारा से अभिषेक ?

मधुर विश्रांत और एकांत—

जगत का सुलभा हुआ रहस्य ,
एक करुणामय सुन्दर मौन
और चंचल मन का आलस्य !”

सुना यह मनु ने मधु-गुंजार
मधुकरी का-सा जब सानंद ,
किये मुख नीचा कमल समान
प्रथम कवि का ज्यों सुन्दर छंद ;

एक झिटका-सा लगा सहर्ष,
निरखने लगे लुटे-से, कौन—
गा रहा यह सुन्दर संगीत ?
कुतूहल रह न सका फिर मौन ।

और देखा वह सुन्दर दृश्य
 नयन का इंद्रजाल अभिराम ;
 कुसुम-वैभव में लता ममान
 चंद्रिका से लिपटा घन श्याम ।
 हृदय की अनुकृति बाह्य उदार
 एक लंबी काया, उन्मुक्त ;
 मधु पवन क्रीड़ित ज्यों शिशु साल
 सुशोभित हो सौरभ संयुक्त ।

मिथुन

मसृण गांधार देश के, नील
 रोम वाले मंफों के चर्म, ~~धमरी~~
 टूट रहे थे उसका वपु कांत
 बन रहा था वह कोमल कुर्म । आकर
वस्त्र

नील परिधान बीच सुकुमार
 खुल रहा मृदुल अधखुला अंग ;
 खिला हो ज्यों विजली का फूल
 मेघ-वन बीच गुलाबी रंग ।

आह ! वह मुख ! पश्चिम के व्योम-
 बीच जब घिरते हों घन श्याम ;
 अरुण रवि-मंडल उनको भेद
 दिखाई देता हो त्रिविधाम ।

या कि, नव इन्द्र नील लघु शृंग
फोड़ कर धधक रही हो कांत ;

एक लघु ज्वालामुखी अचेत
माधवी रजनी में अथांत ।

घिर रहें थे घुँघराले बाल
अंस अवलंबित मुख के पास ;

नील घन-शावक में सुकुमार
मुधा भरने को विधु के पास ।

और उस मुख पर वह मुसक्यान !

रक्त किसलय पर ले विश्राम

अरुण की एक किरण अम्लान

अधिक अलसाई हो अभिराम ।

नित्य यौवन ब्रवि से ही दीप्त

विश्व की करुण कामना मूर्ति ;

स्पर्श के आकर्षण से पूर्ण

प्रकट करती ज्यों जड़ में स्फूर्ति ।

उपा की पहिली लेखा कांत,

माधुरी से भींगी भर मोद ;

मद भरी जैसे उठे सलज्ज

भोर की तारक द्युति की गोद ।

कुसुम कानन-अंचल में मन्द धीरे-धीरे
 पवन प्रेरित सौरभ साकार,
 रचित परमाणु पराग शरीर
 खड़ा हो ले मधु का आधार।

और पड़ती हो उस पर शुभ्र
 नवल मधु-राका मन की साध;
 हँसी का मद विह्वल प्रतिबिंब
 मधुरिमा खेला सदृश अबाध।

कहा मनु ने, "नभ धरणी बीच
 बना जीवन रहस्य निरुपाय;
 एक उल्का-सा जलता आत;
 शून्य में फिरता हूँ असहाय।

शैल निर्भर न बना हतभाग्य
 गल नहीं सका जो कि हिम-खंड,
 दौड़कर मिला न जलनिधि अंक
 आह वैसा ही हूँ पाषंड।

पहेली सा जीवन है व्यस्त
 उसे सुलझाने का अभिमान
 बताता है विस्मृति का मार्ग
 चल रहा हूँ बन कर अनजान ।

भूलता ही जाता दिन रात
 सजल अभिलाषा कलित अतीत ;
 बढ़ रहा तिमिर गर्भ में नित्य,
 दीन जीवन का यह संगीत ।

क्या कहूँ, क्यों हूँ मैं उद्भ्रान्त ? पथ-प्रद
 विवर में नील गगन के आज
 वायु की भटकी एक तरंग,
 शून्यता का उजड़ा सा राज ।

एक विस्मृति का स्तूप अचेत, 
 ज्योति का धुँधला सा प्रतिबिम्ब ;
 और जड़ता की जीवन राशि
 सफलता का संकलित विलम्ब ।

“कौन हो तुम वसंत के दूत
 विरस पतझड़ में अति सुकुमार !
 घन तिमिर में चपला की रेख,
 तपन में शीतल मन्द बयार ।”

नखत की आशा किरण समान,
 हृदय के कोमल कवि की कांत—
 कल्पना की लघु लहरी दिव्य
 कर रही मानस हलचल शांत !”

लगा कहने आगंतुक व्यक्ति
 मिटाता उत्कंठा सविशेष ;
 दे रहा हो काकिल सानन्द
 सुमन को ज्यों मधुमय सन्देश :—

“ भरा था मन में नव उत्साह
सीख लूँ ललित कला का ज्ञान
इधर रह गंधर्वों के देश
पिता की हूँ प्यारी संतान ।

घूमने का मेरा अभ्यास,
बढ़ा था मुक्त व्योम-तल नित्य ;
कुतूहल खोज रहा था व्यस्त
हृदय सत्ता का सुन्दर सत्य ।

दृष्टि जब जाती हिम-गिरि ओर
प्रश्न करता मन अधिक अधीर ,
धरा की यह सिकुड़न भयभीत
आह कैसी है ? क्या है पीर ?

मधुरिमा में अपनी ही मौन,
एक सोया संदेश महान ,
सजग हो करता था संकेत ;
चेतना मचल उठी अनजान ।

बढ़ा मन और चले ये पैर,
शैल मालाओं का शृंगार ;
आँख की भूख मिटी यह देख
आह कितना सुन्दर सम्भार !

✓ एक दिन सहसा सिंधु अपार
 लगा टकराने नग तल क्षुब्ध ;
 अकेला यह जीवन निरुपाय
 आज तक घूम रहा विश्रब्ध ।

यहाँ देखा कुछ बलि का अन्न,
 भूत-हित-रत किसका यह दान !
 इधर कोई है अभी सजीव
 हुआ ऐसा मन में अनुमान ।

तपस्वी ! क्यों इतने हो क्लान्त ?
 वेदना का यह कैसा वेग ?
 आह ! तुम कितने अधिक हताश
 बताओ यह कैसा उद्वेग !

हृदय में क्या है नहीं अधीर,
 लालसा जीवन की निःशेष ?
 कर रहा वंचित कहीं न त्याग
 तुम्हें, मन में घर सुन्दर वेश !

दुःख के डर से तुम अज्ञात
 जटिलताओं का कर अनुमान ,
 २ काम से भिन्नक रहे हो आज,
 भविष्यत् से बन कर अनजान ।

कर रही लीलामय आनन्द,
महा चिति सजग हुई सी व्यक्त,
विश्व का उन्मीलन अभिराम
इसी में सब होते अनुरक्त।

काम मंगल से मंडित श्रेय
सर्ग, इच्छा का है परिणाम;
तिरस्कृत कर उसको तुम भूल
बनाते हो असफल भवधाम।

“दुःख की पिछली रजनी बीच
विकसता सुख का नवल प्रभात ;
एक परदा यह भीना नील
छिपाये है जिसमें सुख गात।”

जिसे तुम समझे हो अभिशाप,
जगत की ज्वालाओं का मूल;
ईश का वह रहस्य वरदान
कभी मत इसको जाओ भूल।

विषमता की पीड़ा से व्यस्त
 हो रहा स्पंदित विश्व महान ;
 यही दुख सुख विकास का सत्य २०८
 यही भूमा का मधुमय दान ।
 नित्य समरसता का अधिकार,
 उमड़ता कारण जलधि समान ;
 व्यथा से नीली लहरों बीच
 बिखरते सुखमणि गए द्युतिमान ! ”

लगे कहने मनु सहित विषाद :—

“मधुर मारुत से ये उच्छ्वास
 अधिक उत्साह तरंग अबाध
 उठाते मानस में सविलास ।

किंतु जीवन कितना निरुपाय !

लिया है देख नहीं संदेह
 निराशा है जिसका परिणाम
 सफलता का वह कल्पित गेह । ” ✓

कहा आगंतुक ने सस्नेह :—

“अरे तुम इतने हुए अधीर !

हार बैठे जीवन का दाँव,

जीतते मर कर जिसको वीर ।

तप नहीं केवल जीवन-सत्य

करुण यह क्षणिक दीन अवसाद ;

तरल आकांक्षा से है भरा

सो रहा आशा का आह्लाद ।^१

प्रकृति के यौवन का शृंगार

करेंगे कभी न वासी फूल ;

मिलेंगे वे जाकर अति शीघ्र

आह उत्सुक हैं उनकी धूल ।

पुरातनता का यह निर्मोक

सहन करती न प्रकृति पल एक ;

नित्य नूतनता का आनंद

किये है परिवर्तन में टेक । २८५११)

युगों की चट्टानों पर सृष्टि
 डाल पद-चिह्न चली गंभीर ;
 देव, गंधर्व, असुर की पंक्ति शृङ्खला
 अनुसरण करती उसे अधीर ।

“एक तुम, यह विस्तृत भू-खंड
 प्रकृति वैभव से भरा अमंद ; पूरा, प्रशस्त
 कर्म का भोग, भोग का कर्म
यही जड़ का चेतन आनन्द ।

अकेले तुम कैसे असहाय
 यजन कर सकते ? तुच्छ विचार !
 तपस्वी ! आकर्षण से हीन
 कर सके नहीं आत्म विस्तार ।

दब रहे हो अपने ही बोझ
 खोजते भी न कहीं अवलंब ;
 तुम्हारा सहचर बन कर क्या न
 उन्मत्त होऊँ मैं बिना विलम्ब ?

समर्पण लो सेवा का सार
 सजल संसृति का यह पतवार,
 आज से यह जीवन उत्सर्ग
 इसी पद तल में विगत विकार ।

दया, माया, ममता लो आज,
 मधुरिमा लो, अगाध विश्वास ;
 हमारा हृदय-रत्न निधि स्वच्छ
 तुम्हारे लिए खुला है पास ।

बनो संसृति के मूल रहस्य
 तुम्हीं से फैलेगी वह बेल ;
 विश्व भर सौरभ से भर जाय
 सुमन के खेलो सुन्दर खेल ।

“ और यह क्या तुम सुनते नहीं
 विधाता का मंगल वरदान—
 ‘ शक्तिशाली हो, विजयी बनो ’
 विश्व में गूँज रहा जय गान ।

३१११२ + ३११०११

“ डरो मत अरै अमृत संतान । ^{बेहतर}
 अग्रसर है मंगलमय वृद्धि ;
 पूर्ण आकर्षण जीवन कैंद्र
 खिची आवेगी सकल समृद्धि ।

देव-असफलताओं का ध्वंस
 प्रचुर ^{सुख} उपकरण जुटाकर आज ;
 पड़ा है बन मानव संपत्ति ^{म०५ का संतान}
 पूर्ण हो मन का चेतन राज ।

चेतना का सुन्दर इतिहास
 अखिल मानव भावों का सत्य ;
 विश्व के हृदय-पटल पर दिव्य
 अक्षरों से अंकित हो नित्य ।

विधाता की कल्याणी सृष्टि
 सफल हो इस भूतल पर पूर्ण ;
^{८१६४} पटें सागर, बिखरें ग्रह-पुंज
 और ज्वालामुखियाँ हों चूर्ण ।

उन्हें चिनगारी सदृश सदर्प
 कुचलती रहे खड़ी सानन्द ;
 आज से मानवता की कीर्ति
 अनिल, भू, जल में रहे न बंद ।

✓ जलधि के फूटें कितने उत्स
 द्वीप, — कच्छप डूबें-उतरायें;
 किंतु वह खड़ी रहे दृढ़ मूर्ति
 अभ्युदय का कर रही उपाय ।

विश्व की दुर्बलता बल बने, ~~क्रान्ति की शक्ति बने~~
 पराजय का बढ़ता व्यापार
 हँसाता रहे उसे सविस्वास
 शक्ति का क्रीड़ामय संचार ।

शक्ति के विद्युत्करण, जो व्यस्त ~~हैं~~
 विकल बिखरे हैं, हो निरुपाय;
 समन्वय उसका करै समस्त
 विजयिनी मानवता हो जाय ।”

काम

“मधुमय वसंत जीवन वन के,

बह अंतरिक्ष की लहरों में;

कब आये थे तुम चुपके से

२१६ रजनी के पिछलै पहरों में !”

क्या तुम्हें देख कर आते यों,

मतवाली कोयल बोली थी !

उस नीरवता में अलसाई

कलियों ने आँखें खोली थीं !

जब लीला से तुम सीख रहे

कोरक कोने में लुकु रहना ;

तब शिथिल सुरभि से धरणी में

बिछलन न हुई थी ? सच कहना ।

जब लिखते थे तुम सरस हँसी

अपनी, फूलों के अंचल में ;

अपना कलकंठ मिलाते थे

झरनों के कोमल कल-कल में ।

निश्चित आह ! वह था कितना १२१५

उल्लास, काकली के स्वर में !

आनंद प्रतिध्वनि गूँज रही

जीवन दिगंत के अंबर में ।

शिशु चित्रकार चंचलता में
 कितनी आशा चित्रित करते !
 अस्पष्ट एक लिपि ज्योतिमयी
 जीवन की आँखों में भरते ।

लतिका घूँघट से चितवन की
 वह कुसुम दुग्ध सी मधु धारा ,
 प्लावित करती मन अजिर रही,
 था तुच्छ विश्व वैभव सारा ।

वे फूल और वह हँसी रही
 वह सौरभ, वह निश्वास छना ;
 वह कलरव, वह संगीत अरे
 वह कोलाहल एकांत बना ! ”

कहते कहते कुछ सोच रहे
 लेकर निश्वास निराशा की ;
 मनु अपने मन की बात, रुकी
 फिर भी न प्रगति अभिलाषा की ।

काम १२

Wellcome Chandra

“ओ नील आवरण जगती के Shaks”

दुर्वोध न तू ही है इतना;

अवगुंठन होता आँखों का

आलोक रूप बनता जितना।

चल-चक्र ^{चक्र}वर्षा का ज्योति भरा The Moon Wheel

व्याकुल तू क्यों देता फेरी?

तारों के फूल बिखरते हैं

लुटती है असफलता तेरी।

नव ^{नव}नील कुञ्ज हैं भीम रहे,

कुसुमों की कथा न बंद हुई;

है अंतरिक्ष आमोद भरा

हिम कणिका ही मकरंद हुई।

इस इंदीवर से गंध भरी

बुनती जाली मधु की धारा;

मन-मधुकर की अनुरागमयी

बन रही मोहनी सी कारा।

अणुओं को है विश्राम कहाँ

यह कृतिमय वेग भरा कितना;

अविराम नाचता कंपन है,

उल्लास सजीव हुआ कितना!

उन नृत्य शिथिल निश्वासों की,
 कितनी है मोहमयी माया,
 जिनसे समीर छनता छनता
 बनता है प्राणों की छाया ।

आकाश-रंभ्र हैं पूरित से
 यह सृष्टि गहन सी होती है ;
 आलोक सभी मूर्च्छित सोते,
 यह आँख थकी सी रोती है ।

सौंदर्यमयी चंचल कृतियाँ
 बनकर रहस्य हैं नाच रहीं ;
 मेरी आँखों को रोक वहीं
 आगे बढ़ने में जाँच रहीं । १०-११-२५

मैं देख रहा हूँ जो कुछ भी,
 वह सब क्या छाया उलझन है ?
 सुन्दरता के इस परदे में
 क्या अन्य धरा कोई धन है ?

(मेरी अक्षय निधि ! तुम क्या हो,
 पहचान सकूँगा क्या न तुम्हें ?
 उलझन प्राणों के धागों की
 सुलझन का समझूँ मान तुम्हें ।

अलसाई
रात्री-

माघवी निशा की अलसाई

अलकों में लुकते तारा सी;

क्या हो सूने मरु-अंचल में Desert

अंतःसलिला की धारा सी! आलस बह
नदी

अलसाई
(Ears)

श्रुतियों में चुपके चुपके से

कोई मधु धारा घोल रहा;

इस नीरवता के परदे में

जैसे कोई कुछ बोल रहा।

है स्पर्श मलय के झिलमिल-सा

यातःकाल संज्ञा को और सुलाता है; जेमाना

पुलकित हो आँखें बन्द किये

तंद्रा को पास बुलाता है। आकस्मिक
निद्रा सी
आली

अलसाई
(Ears)

ब्रीड़ा है यह चंचल कितनी

विभ्रम से घूँघट खींच रही; शौन्दर्य

छिपने पर स्वयं मृदुल कर से

क्यों मेरी आँखें मीच रही!

शित

उदबुद्ध द्युतिज की श्याम छटा

HORIZAN

इस उदित शुक की छाया में;

अलसाई

ऊषा सा कौन रहस्य लिये

सोती किरनों की काया में!

उठती हैं किरनों के ऊपर
 कोमल किसलय की छाजन सी ; ८६५५
 स्वर का मधु निस्वन रंघ्रों में
 जैसे कुछ दूर बजे बंसी ।

सब कहते हैं 'खोलो खोलो,
 छवि देखूँगा जीवन-धन की',
 आवरण स्वयं बनते जाते
 है भीड़ लग रही दर्शन की ।

चाँदनी सदृश खुल जाय कहीं
 अवगुंठन आज सँवरता सा ;
 जिसमें अनंत कल्लोल भरा ७१३ ७६५
 लहरों में मस्त विचरता सा—

अपना फैनिल फन पटक रहा
 मणियों का जाल लुटाता सा ;
 उन्निद्र दिखाड़े देता हो
 उन्मत्त हुआ कुछ गाता सा । ”

“जो कुछ हो, मैं न सम्हालूँगा
 इस मधुर भार को जीवन के ;
 आने दो कितनी आती हैं
 बाधायेँ दम संयम बन के ।

नक्षत्रों, तुम क्या देखोगे
 इस ऊषा की लाली क्या है ?
 संकल्प भर रहा है उनमें
 संदेहों की जाली क्या है ?

कौशल यह कोमल कितना है
 सुषमा दुर्भेद्य बनेगी क्या ?
 चेतना इन्द्रियों की मेरी
 मेरी ही हार बनेगी क्या ?”

“पीता हूँ, हों मैं पीता हूँ
 यह स्पर्श, रूप, रस, गंध, भरा
 मधु लहरों के टकराने से
 ध्वनि में है क्या गुंजार भरा ।

तारा बन कर यह बिखर रहा
 क्यों स्वप्नों का उन्माद अरे !
 मादकता माती नींद लिये
 सोऊँ मन में अवसाद भरै ।”

चेतना शिथिल सी होती है
 उन अंधकार की लहरों में ;
 मनु डूब चले घीरे-घीरे
 रजनी के पिछले पहरों में ।

उस दूर क्षितिज में सृष्टि बनी
 स्मृतियों की संचित छाया से ;
 इस मन को है विश्राम कहाँ
 चंचल यह अपनी माया से ।

जागरण लोक था भूल चला
 स्वप्नों का सुख संचार हुआ ;
 कौतुक सा बन मनु के मन का
 वह सुन्दर क्रीड़ागार हुआ ।

था व्यक्ति सोचता आलस में
 चेतना सजग रहती दुहरी ;
 कानों के कान खोल करके
 सुनती थी कोई ध्वनि गहरी ।

जो आकर्षण बन हँसती थी
 रति थी अनादि वासना वही ;
 अव्यक्त प्रकृति उन्मीलन के
 अंतर में उसकी चाह रही ।

हम दोनों का अस्तित्व रहा
 उस आरम्भिक आवर्तन सा ;
 जिससे संसृति का बनता है
 आकार रूप के नर्तन सा ।

उस प्रकृति लता के यौवन में
 उस पुष्पवती के माधव का ;
 मधु हास हुआ था वह पहला
 दो रूप मधुर जो ढाल सका ।

— 20.11.1975

“ वह मूल शक्ति उठ खड़ी हुई
 अपने आलस का त्याग किये ;
 परमाणु बाल सब दौड़ पड़े
 जिसका सुन्दर अनुराग लिये ।

कुंकुम का चूर्ण उड़ाते से
मिलने को गले ललकते से ;
अंतरिक्ष के मधु उत्सव के
विद्युत्कण मिले झलकते से ।

वह आकर्षण, वह मिलन हुआ
प्रारम्भ माधुरी छाया में :
जिसको कहते सब सृष्टि, बनी
मतवाली अपनी माया में ।

प्रत्येक नाश विश्लेषण भी
संश्लिष्ट हुए, बन सृष्टि रही ;
ऋतुपति के घर कुसुमोत्सव था,
मादक मरंद की वृष्टि रही ।

भुज-लता पड़ी सरिताओं की
शैलों के गले सनाथ हुए ;
जलनिधि का अंचल व्यजन बना पुनः पुनः
घरणी का, दो दो साथ हुए ।

कोरक अंकुर सा जन्म रहा,
हम दोनों साथी भूल चले ;
उस नवल सर्ग के कानन में
मृदु मलयानिल से फूल चले ।

हम ^{युद्ध} ^{प्यास} से जाग उठे,
 आकांक्षा-तृप्ति समन्वय में;
 रति-काम बने उस रचना में
 जो रही नित्य यौवन वय में।”

“सुर बाष्पाओं की सखी रही
 उनकी हृत्तंत्री की लय थी;
 रति, उनके मन को सुलभाती
 वह राग भरी थी, मधुमय थी।

मैं तृष्णा था विकसित करता
 वह तृप्ति दिखाती थी उनको;
 आनंद-समन्वय होता था
 हम ले चलते पथ पर उनको।

वे अमर रहे न विनोद रहा
 चेतनता रही, अनंग हुआ; अंगहीन
 हूँ भटक रहा अस्तित्व लिये
 संचित का सरल प्रसंग हुआ।”

खिला

1
" यह नीड़ मनोहर कृतियों का *As a stage of Action*
यह विश्व कर्म रंगस्थल है ;
है परंपरा लग रही यहाँ
ठहरा जिसमें जितना बल है ।

वे कितने ऐसे होते हैं
जो केवल साधन बनते हैं ;
आरम्भ और परिणामों के
सम्बन्ध, सूत्र से बुनते हैं ।

ऊषा की सजल गुलाली जो
धुलती है नीले अंबर में ;
वह क्या है ? क्या तुम देख रहे
वर्णों के मेघादंबर में ।

अंतर है दिन औ रजनी का
यह साधक कर्म बिखरता है ;
माया के नीले अंचल में
आलोक विंदु सा भरता है । "

उदगी, हाव, सयक,

“आरंभिक वात्स्या उद्गम में

अब प्रगति बन रहा संसृति का ;

मानव की शीतल छाया में

ऋण शोध करूँगा निज कृति का ।

दोनों का समुचित प्रतिवर्त्तन

जीवन में शुद्ध विकास हुआ ;

प्रेरणा अधिक अब स्पष्ट हुई

जब विप्लव में पड़ हास हुआ ।

यह लीला जिसकी विकस चली

वह मूल शक्ति थी प्रेम कला ;

उसका संदेश सुनाने को

संसृति में आई वह अमला ।

हम दोनों की संतान वही
 कितनी सुन्दर भोली-भाली ;
 रंगों ने जिनसे खेला हो
 ऐसे फूलों की वह डाली ।

जड़-चेतनता की गाँठ वही
 सुलभन है भूल-सुधारों की ।
 वह शीतलता है शांतिमयी
 जीवन के उष्ण विचारों की ।

उसके पाने की इच्छा हो
 तो योग्य बनो ” कहती-कहती ;
 वह ध्वनि चुपचाप हुई सहसा
 जैसे मुरली चुप हो रहती ।

मनु आँख खोलकर पूछ रहे :—
 “ पथ कौन वहाँ पहुँचाता है ?
 उस ज्योतिमयी को देव ! कहो
 कैसे कोई नर पाता है ?

पर कौन वहाँ उत्तर देता !
 वह स्वप्न अनोखा भंग हुआ ;
 देखा तो सुन्दर प्राची में प्रकाश !
 अरुणोदय का रस रंग हुआ ।

(उस लता कुंज की मिल-मिल से
 हेमाभरिम् थी खेल रही ;
 देवों के सोम सुधा रस की
 मनु के हाथों में बेल रही ।)

वासना

चल पड़े कब से हृदय दो पथिक से अश्रुत ;
 यहाँ मिलने के लिए, जो भटकते थे भ्रान्त ।
 एक गृह-पति, दूसरा था अतिथि विगत विकार ;
 प्रश्न था यदि एक, तो उत्तर द्वितीय उदार ।

एक जीवन सिंधु था, तो वह लहर लघु लोल ;
 एक नवल प्रभात, तो वह स्वर्ण किरण अमोल ।
 एक था आकाश वर्षा का सजल उद्दाम ;
 दूसरा रंजित किरण से श्री-कलित घनश्याम ।

नदी तट के क्षितिज में नव जलद, सायंकाल ;
 खेलता दो बिजलियों से मधुरिमा का जाल ।
 लड़ रहे अविरत युगल थे चेतना के पाश ;
 एक सकता था न कोई दूसरे को फाँस !

था समर्पण में ग्रहण का एक सुनिहित भाव ;
 थी प्रगति, पर अड़ा रहता था सतत अटकाव ।
चल रहा था विजन-पथ पर मधुर जीवन-खेल ;
दो अपरिचित से नियति अब चाहती थी मेल ।

नित्य परिचित हो रहे तब भी रहा कुछ शेष ;
 गूढ़ अंतर का छिपा रहता रहस्य विशेष ।
 दूर जैसे सघन वन-पथ अंत का आलोक ;
 सतत होता जा रहा हो, नयन की गति रोक ।

१० जून ५०६५

गिर रहा निस्तेज गोलक जलधि में असहाय ;
घन-पटल में डूबता था किरण का समुदाय ।
कर्म का अवसाद दिन से कर रहा छल छंद ;
मधुकरी का सुरस संचय हो चला अब बंद ।

१० जून

उठ रही थी कालिमा धूसर क्षितिज से दीन ;
भेंटता अंतिम अरुण आलोक वैभव हीन ।
यह दरिद्र मिलन रहा रच एक करुणा लोक ;
शोक भर निर्जन निलय से बिछुड़ते थे कोक । ५२१

मनु अभी तक मनन करते थे लगाये ध्यान ;
काम के संदेश से ही भर रहे थे कान ।
इधर गृह में आ जुटे थे उपकरण अधिकार ;
शस्य पशु या धान्य का होने लगा संचार ।

नई इच्छा खींच लाती, अतिथि का संकेत—

चल रहा था सरल शासन युक्त सुरुचि समेत ।

देखते थे अग्नि - शाला से कुतूहल युक्त ;

मनु चमत्कृत निज नियति का खेल बंधन-मुक्त ।

अतिथि का संकेत

एक माया ! आ रहा था पशु अतिथि के साथ ;

हो रहा था मोह करुणा से सजीव सनाथ !

चपल कोमल कर रहा फिर सतत पशु के अंग ;

स्नेह से करता चमर उद्ग्रीव हो वह संग ।

माया

कभी पुलकित रोम राजी से शरीर उछाल ;

भाँवरों से निज बनाता अतिथि सर्बिधि जाल ।

कभी निज भोले नयन से अतिथि बदन निहार ;

सकल संचित स्नेह देता दृष्टि - पथ से ढार ।

और वह पुचकारने का स्नेह शबलित चाव ;
मंजु ममता से मिला बन हृदय का सद्भाव ।
देखते ही देखते दोनों पहुँच कर पास ;
लगे करने सरल शोभन मधुर मुग्ध विलास ।

वह विराग - विभूति ईर्ष्या - पवन से हो व्यस्त ;
बिखरती थी ; और खुलते ज्वलन कण जो अस्त ।
किन्तु यह क्या ? एक तीखी घूँट, हिचकी आह !
कौन देता है हृदय में वेदनामय झाह ? इच्छा

“आह यह पशु और इतना सरल सुन्दर स्नेह !
पल रहे मेरे दिले जो अन्न से इस गेह ।
मैं ? कहाँ मैं ? ले लिया करते सभी निज भाग ;
और देते फेंक मेरा प्राप्य तुच्छ विराग !

अरी नीच कुतन्त्र ! पिच्छल शिला संलग्न ;
मलिन काई - सी करेगी हृदय कितने भग्न ?
हृदय का राजस्व अपहृत, कर अधम अपराध ;
दस्यु मुझसे चाहते हैं सुख सदा निर्बाध ।

विश्व में जो सरल सुन्दर हो विभूति महान ;
 सभी मेरी हैं, सभी करती रहें प्रतिदान ।
 यही तो, मैं ज्वलित वाडव - वहि नित्य अशांत ।
 सिन्धु लहरों सा करें शीतल मुझे सब शांत । ” } R.C.

आ गया फिर पास कीड़ाशील अतिथि उदार ;
 चपल शैशव - सा मनोहर भूल का त्वे भार ।
 कहा “क्यों तुम अभी बैठे ही रहे घर ध्यान ;
 देखती हैं आँख कुछ, सुनते रहे कुछ कान—

मन कहीं, यह क्या हुआ है ? आज कैसा रंग ? ”
 नत हुआ फण दस ईर्षा का, विलीन उमंग ।
 और सहलाने लगा कर-कमल कोमल कांत ,
 देख कर वह रूप सुषमा मनु हुए कुछ शांत ।

कहा “अतिथि ! कहौं रहे तुम किधर थे अज्ञात ;
और यह सहचर तुम्हारा कर रहा ज्यों बात—
किसी सुलभ भविष्य की; क्यों आज अधिक अधीर ।
मिल रहा तुमसे चिरंतन स्नेह सा गंभीर ?

कौन हो तुम खींचते यों मुझे अपनी ओर ;
और ललचाते स्वयं हटते उधर की ओर ?
ज्योत्स्ना निर्भर ! ठहरती ही नहीं यह आँख ;
तुम्हें कुछ पहचानने की खो गई - सी साख ।

क. स्वामी
र. प्रतीति

कौन करुण रहस्य है तुममें छिपा छविमान ; २११
लता वीरुष दिया करते जिसे छाया दान । ५१६
पशु कि हो पाषाण सब में नृत्य का नव छंद ; ५१७
एक आलिंगन बुलाता सभी को सानंद ।

राशि-राशि बिखर पड़ा है शांत संचित प्यार ;
रख रहा है उसे ढोकर दीन विश्व उधार ।
देखता हूँ चकित जैसे ललित लतिका-लास ;
अरुण घन की सजल छाया में दिनांत-निवास—

और उसमें हो चला जैसे सहज सविलास ;
मंदिर माधव यामिनी का घीर पद विन्यास ।
आह यह जो रहा सूना पड़ा कोना दीन ;
ध्वस्त मंदिर का, बसाता जिसे कोई भी न—

उसी में विश्राम माया का अचल आवास ;
 अरे यह सुख नींद कैसी, हो रहा हिम हास !
 वासना की मधुर छाया ! स्वास्थ्य बल विश्राम !
 हृदय की सौंदर्य प्रतिमा ! कौन तुम छवि-धाम !

सर्ग

कामना की किरन का जिसमें मिला हो ओज ;
 कौन हो तुम, इसी भूले हृदय की चिर खोज !
 कुन्द मन्दिर सी हँसी ज्यों खुली सुषमा बोट ;
 क्यों न वैसे ही खुला यह हृदय रुद्ध कपाट ? ”

कहा हँस कर “ अतिथि हूँ मैं, और परिचय व्यर्थ ;
 तुम कभी उद्विग्न इतने थे न इसके अर्थ !
 चलो, देखो वह चला आता बुलाने आज—
 सरल हँसमुख विधु जलद लघु खण्ड वाहन साज !

कालिमा धुलने लगी धुलने लगा आलोक , ५५५५५५५५
 इसी निभृत अनंत में बसने लगा अब लोक ;
 इस निशामुख की मनोहर सुधामय मुसक्यान ,
 देख कर सब भूल जायें दुःख के अनुमान ।

६५१

देख लो, ऊँचे शिखर का व्योम चुम्बन व्यस्त ;
 लोटना अंतिम किरण का और होना अस्त ।
 चलो तो इस कौमुदी में देख आवें आज ;
 प्रकृति का यह स्वप्न शासन, साधना का राज ।”

सृष्टि है मने लगी आँखों में खिला अनुराग ;
 राग रंजित चंद्रिका थी, उड़ा सुमन पराग ।
 और हँसता था अतिथि मनु का पकड़ कर हाथ ;
 चले दोनों, स्वप्न - पथ में स्नेह संवल साथ ।

देवदारु निकुञ्ज गह्वर सब सुधा में स्नात ;
 सब मनाते एक उत्सव जागरण की रात ।
 आ रही थी मंदिर भीनी माधवी की गंध ;
 पवन के घन धिरे पड़ते थे बने मधु अंध ।

शिथिल अलसाई पड़ी छाया निशा की कांत ;
 सो रही थी शिशिर कण की सेज पर विश्रांत ।
 उसी झुरमुट में हृदय की भावना थी आंत ;
 जहाँ छाया सृजन करती थी कुतूहल कांत ।

कहा मनु ने “तुम्हें देखा अतिथि ! कितनी बार ;
किन्तु इतने तो न थे तुम दवे छवि के भार ! सुन्दर
पूर्व जन्म कहूँ कि था स्पृहणीय मधुर अतीत ;
गूँजते जब मंदिर घन में वासना के गीत ।

भूल कर जिस दृश्य को मैं बना आज अचेत ;
वही कुछ सुत्रीड़, सस्मित कर रहा संकेत । मज्जिस्
“मैं तुम्हारा हो रहा हूँ” यही सुदृढ़ विचार ;
चेतना का परिधि बनता घूम चक्राकार ।

मधु बरसती विधु किरन हैं काँपती सुकुमार ;
पवन में है पुलक मंथर, चल रहा मधु-भार ।
तुम समीप, अधीर इतने आज क्यों हैं प्राण ?
छक रहा है किस सुरभि से तृप्त होकर घ्राण ?

आज क्यों संदेह होता रूठने का व्यर्थ ;
क्यों मनाना चाहता - सा बन रहा असमर्थ !
धमनियों में वेदना - सा रक्त का संचार ;
हृदय में है काँपती धड़कन, लिये लघु भार !

चेतना रंगीन ज्वाला परिधि में सानन्द ,
 मानती - सी दिव्य सुख कुछ गा रही है छंद !
 अग्नि कीट समान जलती है भरी उत्साह ,
 और जीवित है, न छाले हैं न उसमें दाह !

कौन हो त्रुम विश्व माया कुहक सी साकार ,
 प्राण सत्ता के मनोहर भेद - सी सुकुमार !
 हृदय जिसकी कांत छाया में लिये निश्वास ,
 थके पथिक समान करता व्यजन ग्लानि विनाश ! ”

श्याम नभ में मधु किरन-सा फिर वही मृदु हास ,
 सिंधु की हिलकोर दक्षिण का सभीर विलास !
 कुंज में गुञ्जरित कोई मुकुल - सा अव्यक्त ,
 लगा कहने अतिथि, मनु थे सुन रहे अनुरक्त—

“यह अतृप्ति अधीर मन की क्षोभयुत उन्माद ,
सखे ! तुमुल तरंग - सा उच्छ्वासमय संवाद ।
मत कहो पूछो न कुछ, देखो न कैसी मौन ,
विमल राका मूर्ति बन कर स्तब्ध बैठा कौन !

विभव मतवाली प्रकृति का आवरण वह नील ,
शिथिल है, जिस पर बिखरता प्रचुर मंगल खील ;
राशि-राशि नखत कुसुम की अर्चना अश्रात ,
बिखरती है, ताम रस सुन्दर चरण के प्रांत ।”

मनु निरखने लगे ज्यों - ज्यों यामिनी का रूप ,
वह अनन्त प्रगाढ़ छाया फैलती अपरूप ;
बरसता था मंदिर कण-सा स्वच्छ सतत अनन्त ,
मिलन का संगीत होने लगा था श्रीमंत ! २५ आयु

छूटतीं चिनगारियाँ उत्तेजना उद्भांत ,
 घघकती ज्वाला मधुर, था वक्ष विकल अशांत ।
 वात चक समान कुछ था बाँधता आवेश ,
 धैर्य का कुछ भी न मनु के हृदय में था लेश ;

कर पकड़ उन्मत्त से हो लगे कहने, “आज ,
 देखता हूँ दूसरा कुछ मधुरिमामय साज !
 वही छवि ! हों वही जैसे ! किन्तु क्या यह भूल ?
 रही विस्मृति सिंधु में स्मृति नाव विकल अकूल !

जन्म - संगिनि एक थी जो काम बाला, नाम—
 मधुर श्रद्धा था, हमारे प्राण को विश्राम—
 सतत मिलता था उसी से, अरे जिसको फूल ,
 दिया करते अर्घ में मकरन्द, सुषमा मूल ।

प्रलय में भी बच रहे हम फिर मिलन का मोद ,
 रहा मिलने को बचा सूने जगत की गोद !
 ज्योत्स्ना - सी निकल आई ! पार कर नीहार ,
 प्रणय विधु है खड़ा नभ में लिखे तारक - हार ।

कुटिल कुंतल से बनाती काल माया जाल ,
नीलिमा से नयन की रचती तमिस्रा माल । अन्धकार
नींद-सी दुर्भेद्य तम की, फेंकती यह दृष्टि ,
स्वप्न-सी है बिखर जाती हँसी की चल सृष्टि ।

हुई केंद्रीभूत - सी है साधना की स्फूर्ति ,
दृढ़ सकल सुकुमारता में रम्य नारी मूर्ति ।
दिवाकर दिन या परिश्रम का विकल विश्रांत ,
मैं पुरुष शिशु-सा भटकता आज तक था भ्रांत ।

चन्द्र की विश्राम राका बालिका सी कांत ,
विजयिनी-सी दीखती तुम माधुरी-सी शांत ।
पददलित-सी थकी ब्रज्या ज्यों सदा आकांत ,
शस्य श्यामल भूमि में होती समाप्त अशांत ।

आह ! वैसा ही हृदय का बन रहा परिणाम ,
पा रहा हूँ आज देकर तुम्हीं से निज काम ।
आज ले लो चेतना का यह समर्पण दान ।
विश्व रानी ! सुन्दरी नारी ! जगत की मान ! ”

कामायनी

धूम लतिका सी गगन तरु पर न चढ़ती दीन ,
दबी शिशिर निशीथ में ज्यों ओस भार नवीन !
भुक चली सत्री वह सुकुमारता के भार , ^{हृदय}
लद गई पाकर पुरुष का नर्ममय उपचार !

और वह नारीत्व का जो मूल मधु अनुभाव ,
आज जैसे हँस रहा भीतर बढ़ाता चाव ।
मधुर ब्रीड़ा मिश्र चिंता साथ ले उल्लास , ^{हृदय}
हृदय का आनन्द कूजन लगा करने रास ।

गिर रहीं पलकें, भुकी थी नासिका की नोक ,
भ्रूलता थी कान तक चढ़ती रही बेरोक !
स्पर्श करने लगी लज्जा ललित कर्ण कपोल ,
खिला पुलक कदंब-सा था भरा गदगद बोल !

किन्तु बोली “ क्या समर्पण आज का हे देव !
बनेगा चिर - बंध नारी हृदय हेतु सदैव ।
आह मैं दुर्बल, कहो क्या ले सकूंगी दान !
वह, जिसे उपभोग करने में विकल हों प्रान ? ”

लज्जा

“ कोमल किसलय के अंचल में
 नन्ही कलिका ज्यों छिपती-सी ;
 गोधूली के धूमिल पट में
 दीपक के स्वर में दिपती-सी ।

मंजुल स्वप्नों की विस्मृति में
 मन का उन्माद निखरता ज्यों ;
 सुरभित लहरों की छाया में
 बुल्ले का विभव बिखरता ज्यों ;

वैसी ही माया में लिपटी
 अधरो पर उँगली धरे हुए ;
 माधव-के सरस कुतूहल का
 आँखों में पानी भरै हुए ।

नीरव निशीथ में लतिका-सी
 त्रुम कौन आ रही हो बढ़ती ?
 कोमल बाहें फैलाये-सी
 आलिंगन का जादू पढ़ती !

किन इन्द्रजाल के फूलों से ^{देखो}
 लेकर मुद्दाग कस राग भरै ;
 सिर नीचा कर हो गूँथ रही
 माला जिससे मधु धार ढरे ? —

पुलकित कदंब की माला-सी
 पहना देती हो अन्तर में ;
 झुक जाती है मन की डाली
 अपनी फलभरता के डर में ।

वरदान सदृश हो डाल रही
 नीली किरनों से बुना हुआ ,
 यह अंचल कितना हलका-सा
 कितने सौरभ से सना हुआ ।

सब अंग मोम से बनते हैं
 कोमलता में बल खाती हैं ;
 मैं सिमिट रही-सी अपने में
 परिहास गीत सुन पाती हूँ ।

५५/१६८ स्मित बन जाती है तरल हँसी
 नयनों में भर कर बाँकपना ;
 प्रत्यक्ष देखती हूँ सब जो
 वह बनता जाता है सपना ।

मेरे सपनों में कलरव का
 संसार आँख जब खोल रहा ;
 अनुराग सर्मारों पर तिरता
 था इतराता-सा डोल रहा ।

अभिलाषा अपने यौवन में
 उठती उस सुख के स्वागत को ;
 जीवन भर के बल-वैभव से
 सत्कृत करती दूरागत को । ^{दूर से आया है}
 किरनों का रज्जु समेट लिया ^{रस्सी}
 जिसका अवलंबन ले चढ़ती ;
 रस के निर्भर में धँस कर मैं
 आनन्द-शिखर के प्रति बढ़ती ।

छूने में हिचक, देखने में
 पलकें आँखों पर झुकती हैं ;
 कलरव परिहास भरी गुँजे
 अधरो तक सहसा रुकती हैं ।

संकेत कर रही रोमाली ^{रोमाली}
 चुपचाप वरजती खड़ी रही ; ^{मना करती}
 भाषा बन भौंहों की काली
 रेखा-सी भ्रम में पड़ी रही ।

तुम कौन ? हृदय की परवशता ?
 सारी स्वतंत्रता छीन रही ;
 स्वच्छंद सुमन जो खिले रहे

जीवन वन से हो बीन रही ! " ^{युवा के ना}

संध्या की लाली में हँसती,
 उसका ही आश्रय लेती-सी ;
 छाया प्रतिमा गुनगुना उठी
 श्रद्धा का उत्तर देती-सी ।

“ इतना न चमत्कृत हो बाले !
 अपने मन का उपकार करो ;
 मैं एक पकड़ हूँ जो कहती
 ठहरो कुछ सोच विचार करो ।

अंबर-चुम्बी हिम-शृङ्गों से *अफीली योदियाँ*
 कलरव कालाहल साथ लिये ;
 विद्युत की प्राणमयी धारा
 बहती जिसमें उन्माद लिये ।

मंगल कुंकुम की श्री जिसमें
 निखरी हो ऊषा की लाली ;
 भोला सुहाग इठलाता हो
 ऐसी हो जिसमें हरियाली ।

हो नयनों का कल्याण बना

आनंद सुमन-सा विकसा हो ;

वासंती के वन-वैभव में

जिसका पंचम स्वर पिक-सा हो ; ^{सात स्वरों में}

जो गूँज उठे फिर नस-नस में

मूर्च्छना समान मचलता-सा ;

आँखों के सौँचे में आकर

रमणीय रूप बन ढलता-सा ;

नयनों की नीलम की घाटी

जिस रस घन से छा जाती हो ;

वह कौंध कि जिससे अंतर की

शीतलता ठंडक पाती हो ।

हिल्लोल भरा हो ऋतुपति का

गोधूली की-सी ममता हो ;

जागरण प्रात-सा हँसता हो

जिसमें मध्याह्न निखरता हो ।

हो चकित निकल आई सहसा

जो अपने प्राची के घर से ; ^{पूर्व दिशा}

उस नवल चंद्रिका के बिछले से

जो मानस की लहरों पर से ।

फूलों की कोमल पंखड़ियाँ
 बिखरें जिसके अभिनन्दन में ;
 मकरंद मिलाती हों अपना
 स्वागत के कुंकुम चंदन में ।

कोमल किसलय मर्मर रव से
 जिसका जय-घोष सुनाते हों ;
 जिसमें दुख-सुख मिलकर मन के
 उत्सव आनंद मनाते हों ।

उज्ज्वल वरदान चेतना का
सौंदर्य जिसे सब कहते हैं ;
 जिसमें अनंत अभिलाषा के
सपने सब जगते रहते हैं ।

मैं उसी चपल की धात्री हूँ
 गौरव महिमा हूँ सिखलाती ;
 ठोकर जो लगने वाली है
 उसको धीरे से समझाती ।

मैं देव सृष्टि की रति रानी
 निज पंचवाण से वंचित हो ; काम देव
 बन आवर्जना मूर्ति दीना विशेष
 अपनी अतृप्ति-सी संचित हो ।

अवशिष्ट रह गई अनुभव में
 अपना अर्थात् असफलता सी;
 लीला विलास की संद भरी
 अवसादमयी श्रम दलिता सी।

(मैं रति की प्रतिकृति लज्जा हूँ पद्मा । ५१ ०
 मैं शालीनता सिखाती हूँ; संग में,
 मतवाली सुन्दरता पग में
 नूपुर-सी लिपट मनाती हूँ।)-

लाली बन सरल कपोलों में
 आँखों में अंजन-सी लगती,
 बुंधरी कुंचित अलकों सी घुँघराली
 मन की मुरोर बन कर जगती। ५२ ०

चंचल किशोर सुन्दरता की
 मैं करती रहती रखवाली;
 मैं वह हलकी-सी मसलन हूँ
 जो बनती कानों की लाली।”

“हाँ ठीक, परन्तु बताओगी
मेरे जीवन का पथ क्या है ?
इस निविड़ निशा में संसृति की
आलोकभर्या रेखा क्या है
यह आज समझ तो पाई हूँ
मैं दुर्बलता में नारी हूँ ;
अवयव की सुंदर कोमलता
लेकर मैं सब से हारी हूँ ।

पर मन भी क्यों इतना ढीला
अपने ही होता जाता है !
घनश्याम खंड सी आँखों में
क्यों सहसा जल भर आता है ?

सर्वस्व समर्पण करने की
विश्वास महा तरु छाया में ।
चुपचाप पड़ी रहने की क्यों
ममता जगती है माया में ?

छाया पथ में तारक द्युति-सी
फिलमिल करने की मधु लीला ;
अभिनय करती क्यों इस मन में
कोमल निरीहता श्रम शीला ?

निस्संवल होकर तिरती हूँ
 इस मानस की गहराई में ;
 चाहती नहीं जागरण कभी
 सपने की इस सुवराई में ।

नारी-जीवन का चित्र यही
 क्या ? विकल रंग भर देती हो ;
 अस्फुट रेखा की सीमा में
 आकार कला को देती हो ।

रुकती हूँ और ठहरती हूँ
 पर सोच-विचार न कर सकती ;
 पगली सी कोई अंतर में
 बैठी जैसे अनुदिन बकती ।

मैं जभी तोलने का करती
 उपचार स्वयं तुल जाती हूँ ;
 भुज लता फँसा कर नर तरु से
 भूले सी भोके खाती हूँ ।

(इस अर्पण में कुछ और नहीं
 केवल उत्सर्ग छलकता है ;
 मैं दे दूँ और न फिर कुछ लूँ
 इतना ही सरल झलकता है ।)

“ वया कहती हो ठहरो नारी !

संकल्प अश्रु-जल से अपने ;
तुम दान कर चुकी पहले ही
जीवन के सोने से सपने ।

नारी ! तुम केवल श्रद्धा हो

विश्वास रजत नग पग तल में ;
पीयूष स्रोत सी बहा करे
जीवन के सुन्दर समतल में ।

देवों की विजय, दानवों की
हारों का होता युद्ध रहा ;
संघर्ष सदा उर अंतर में
जीवित रह नित्य विरुद्ध रहा ।

आँसू से भीगे अंचल पर
मन का सब कुछ रखना होगा ;
तुमको अपनी स्मित रेखा से
यह सन्धि-पत्र लिखना होगा । ”

कर्म

कर्म सूत्र संकेत सदृश थी
सोम लता तब मनु को ;
चढ़ी शिजिनी-सी, खींचा फिर
उसने जीवन - धनु को ।

हुए अग्रसर उसी मार्ग में
छुटे तीर से फिर वे ।
यज्ञ-यज्ञ की कटु पुकार से
रह न सके अब थिर वे ।

भरा कान में कथन काम का
मन में नव अभिलाषा ;
लगे सोचने मनु अतिरंजित
उमड़ रही थी आशा ।

ललक रही थी ललित लालसा
सोम - पान की प्यासी ;
जीवन के उस दीन विभव में
जैसी बनी उदासी ।

जीवन की अविराम साधना
भर उत्साह खड़ी थी ;
ज्यों प्रतिकूल पवन में तरणी
गहरे लौट पड़ी थी ।

श्रद्धा के उत्साह वचन, फिर
 काम प्रेरणा मिल के ;
 भ्रांत अर्थ बन आगे आये
 बने ताड़ थे तिल के ।

बन जाता सिद्धांत प्रथम फिर
 पुष्टि हुआ करती है ;
 बुद्धि उसी ऋण को सब से ले
 सदा भरा करती है ।

मन जब निश्चित-सा कर लेता
 कोई मत है अपना ;
 बुद्धि दैव - बल से प्रमाण का
 सतत निरखता सपना ।

पवन वही हिलकोर उठाता
 वही तरलता जल में ।
 वही प्रतिध्वनि अंतरतम की
 छा जाती नभ तल में ।

सदा समर्थन करती उसकी
 तर्क शास्त्र की पीढ़ी ;
 “ ठीक यही है सत्य ! यही है
 उन्नति सुख की सीढ़ी ।

और सत्य ! यह एक शब्द तू
 कितना गहन हुआ है ; १८५२ मय
 बुद्धि मेधा के कीड़ा - पंजर का
 पाला हुआ मुआ है । ~~क~~

सब बातों में योज तुम्हारी
 रट - सी लगी हुई है ;
 किन्तु स्पर्श से तर्क करो के
 बनता 'हुई मुई' है ।

असुर पुरोहित उस विप्लव से
 वच कर भटक रहे थे ;
 वे किलात आकुलि थे जिनने
 कष्ट अनेक सहे थे ;

मिली आ
 आकुलि
 शक्ति
 है

देख-देख कर मनु का पशु जो
 व्याकुल चंचल रहती ;
 उनकी आसिप लोलुप रसना जिह्वा
 आँखों से कुछ कहती ।

रसना लोलुप

'क्यों किलात ! खाते - खाते तृण
 और कहाँ तक जीऊँ ;
 कब तक मैं देखूँ जीवित पशु
 घूँट लहू का पीऊँ !

क्या कोई इसका उपाय ही
 नहीं कि इसको खाऊँ ?
 बहुत दिनों पर एक बार तो
 सुख की बीन बजाऊँ ।’

आकुलि ने तब कहा, ‘ देखते
 नहीं साथ में उसके ;
 एक मृदुलता की, ममता की
 छाया रहती हँस के ।

अंधकार को दूर भगाती
 वह आलोक किरन सी ;
 मेरी माया विध जाती है
 जिससे हलके घन सी ;

तो भी चला आज कुछ करके
 तब मैं स्वस्थ रहूँगा ;
 या जो भी आवेंगे सुख दुख
 उनको सहज सहूँगा ।’

यों ही दोनों कर विचार उस
 कुंज द्वार पर आये ;
 जहाँ सोचते थे मनु बैठे
 मन से ध्यान लगाये ।

“कर्म यज्ञ से जीवन के
 सपनों का स्वर्ग मिलेगा ;
 इसी विपिन में मानस की
 आशा का कुसुम खिलेगा ।
 किन्तु बनेगा कौन पुरोहित ?
 अब यह प्रश्न नया है ;
 किस विधान से करूँ यज्ञ यह
 पथ किस आर गया है !
 श्रद्धा ! पुण्य - प्राप्य है मेरी
 वह अनंत अभिलाषा ;
 फिर इस निर्जन में खोजे
 अब किसको मेरी आशा ।”

कहा असुर मित्रों ने अपना
 मुख गंभीर बनाये ;
 “जिनके लिए यज्ञ होगा हम
 उनके भेजे आये ।

यजन करोगे क्या तुम ? फिर यह
 किसको खोज रहे हो ;
 अरे पुरोहित की आशा में
 कितने कष्ट सहे हो ।

इस जगती के प्रतिनिधि जिनसे
 प्रगट निशीथ सबेरा ;
 ‘मित्र वरुण’ जिनकी छाया है
 यह आलोक अँधेरा ।

वे ही पथ दर्शक हों सब विधि
 पूरी होगी मेरी ;
 चलो आज फिर से वेदी पर
 हो ज्वाला की फेरी ।”

“ परंपरागत कर्मों की वे
 कितनी सुन्दर लड़कियाँ ;
 जीवन साधन की उलझी हैं
 जिसमें सुख की घड़ियाँ ;

जिनमें हैं प्रेरणामयी-सी
 संचित कितनी कृतियाँ ;
 पुलक भरी सुख देने वाली
 बनकर मादक स्मृतियाँ ।

साधारण से कुछ अतिरंजित
 गति में मधुर त्वरा-सी ;
 उत्सव लीला, निर्जनता की
 जिससे कटे उदासी ;

एक विशेष प्रकार, कुतूहल
 होगा श्रद्धा को भी । ”
 प्रसन्नता से नाच उठा मन
 नूतनता का लोभी ।

यज्ञ समाप्त हो चुका तो भी
 धधक रही थी ज्वाला ;
 दारुण दृश्य ! रुधिर के छींटे ! ~~शून्य~~
 अस्थि खंड की माला !

वेदी की निर्मम प्रसन्नता ,
 पशु की कातर वाणी ;
 मिल कर वातवारण बना था
 हिंस्र कोई कुत्सित प्राणी ।

सोमपात्र भी भरा, घरा था
 पावलक आदि का पुरोडाश भी आगे ;
 कनाकुआश्रदा वहाँ न थी मनु के तब
 सुप्त भाव सब जागे ।

“जिसका था उल्लास निरखना

बही अलग जा बैठी ;

यह सब क्यों फिर ? हृत्त वासना ~~मना~~

लगी गरजने ऐंठी ।

जिसमें जीवन का संचित सुख
 सुन्दर मूर्त्त बना है !
 हृदय खोल कर कैसे उसको
 कहूँ कि वह अपना है ?

वही प्रसन्न नहीं ? रहस्य कुछ
 इसमें सुनिहित होगा ; *(हृदय ही गीत)*
 आज वही पशु मर कर भी क्या
 सुख में बाधक होगा ?

श्रद्धा रूठ गई तो फिर क्या
 उसे मनाना होगा ;
 या वह स्वयं मान जायेगी,
 किस पथ जाना होगा !”

पुरोडाश के साथ सोम का
 पान लगे मनु करने ;
 लगे ग्राण के रिक्त अंश को
 मादकता से भरने ।

संध्या की धूसर छाया में
 शैल शृंग की रेखा ;
 अंकित थी दिगंत अंबर में
 लिये मलिन शशि-लेखा ।

श्रद्धा अपनी शयन गुहा में
 दुखी लौट कर आयी ;
 एक विरक्ति बोझ - सी ढोती
 मन ही मन बिलखायी ।

सूखी काष्ठ संधि में पतली
 अनल शिखा जलती थी ;
 उस धुँधले गृह में आभा से
 तामस को छलती थी ।

किन्तु कभी बुझ जाती पाकर
 शीत पवन के झोंके ;
 कभी उसी से जल उठती तब
 कौन उसे फिर रोके ।

कामायनी पढ़ी थी अपना
 कोमल चर्म बिछा के ;
 श्रम मानो विश्राम कर रहा
 मृदु आलस को पाके ।

धीरे-धीरे जगत चल रहा
 अपने उस ऋजु पथ में ;
 धीरे - धीरे खिलते तारे
 मृग जुतते विधु रथ में ।

अंचल लटकाती निशीथिनी
 अपना ज्योत्स्ना - शाली ,
 जिसकी छाया में सुख पावे
 सृष्टि वेदना वाली ।

उच्च शैल शिखरों पर हँसती
 प्रकृति चंचला बाला ;
 धवल हँसी बिखराती अपनी
 फैला मधुर उजाला ।

जीवन की उद्दाम लालसा तीव्र
 उलझी जिससे ब्रीड़ा ,
 एक तीव्र उन्माद और मन
 मथने वाली पीड़ा ;

मधुर विरक्ति भरी आकुलता,
 घिरती हृदय - गगन में ;
 अंतर्दाह स्नेह का तब भी
 होता था उस मन में ।

वे असहाय नयन थे खुलते—
 मुँदते भीषणता में ;
 आज स्नेह का पात्र खड़ा था,
 स्पष्ट कुटिल कटुता में ।

“कितना दुःख जिसे मैं चाहूँ
 वह कुछ और बना हो ;
 मेरा मानस चित्र खींचना
 सुन्दर - सा सपना हो ।

जाग उठी है दारुण ज्वाला
 इस अनंत मधुवन में ;
 कैसे बुझे कौन कह देगा
 इस नीरव निर्जन में ।

यह अनंत अवकाश नीड़-सा
 जिसका व्यथित बसेरा ;
 वही वेदना सजग पलक में
 भर कर अलस सबैरा ।

काँप रहे हैं चरण पवन के
 विस्तृत नीरवता - सी ;
 घुली जा रही है दिशि-दिशि की
 नभ में मलिन उदासी ।

अंतरतम की प्यास, विकलता से
 लिपटी बढ़ती है ;
 युग-युग की असफलता का
 अवलंबन ले चढ़ती है ।

विश्व विपुल आतंक-त्रस्त है
 अपने ताप विषम से ;
 फैल रही है घनी नीलिमा
 अंतर्दाह परम से ।

उद्वेलित है उदधि, लहरियाँ
 लोट रहीं व्याकुल - सी ;
चक्रवाल की धुँधली रेखा ^{पादों की धारा}
 मानो जाती झुलसी । ^{महाशक्ति}

सघन धूम-कुण्डल में कैसी
 नाच रही यह ज्वाला !
 तिमिर-फणी पहने है मानो
 अपने मणि की माला !

जगती - तल का सारा कंदन
 यह विषमयी विषमता ;
 चुभने वाला अंतरंग बल
 अति दारुण निर्ममता ।

जीवन के वे निष्ठुर दंशन अपराध, निरते शत्रु
जिनकी आतुर पीड़ा ;

1. सायन कलुष चक्र - सी नाच रही है
बन आँखों की कीड़ा ।

2. निरसना स्वलन चेतना के कौशल का
भूल जिसे कहते हैं ;
एक विन्दु, जिसमें विषाद के
नद उमड़े रहते हैं । R.C.

आह वही अपराध, जगत की
दुर्बलता की माया ;
धरणी की वर्जित मादकता , प्रभावित गथा
संचित तम की छाया ।

1. काल
2. क
3. क
नील गरल से भरा हुआ
यह चंद्र कपाल लिये हो ;
इन्हीं निमीलित ताराओं में
कितनी शांति पिये हो ।

अखिल विश्व का विष पीते हो
ष्ट जियेगी फिर से ;
कहो अमर शीतलता इतनी
आती तुम्हें किधर से ?

अचल अनन्त नील लहरों पर
 बैठे आसन मारे ;
 देव ! कौन तुम झरते तन से
 श्रम करण से ये तारे !

इन चरणों में कर्म - कुसुम की
 अंजलि वे दे सकते ,
 चले आ रहे छाया पथ में
 लोक - पथिक जो थकते ?

किन्तु कहाँ वह दुर्लभ उनको
 स्वीकृति मिली तुम्हारी !
 लौटाये जाते वे असफल
 जैसे नित्य भिखारी ।

प्रखर विनाशशील नर्तन में
 विपुल विश्व की माया ;
 क्षण-क्षण होती प्रकट नवीना
 बन कर उसकी काया ।

सदा पूर्णता पाने को सब
 भूल किया करते क्या ?
 जीवन में यौवन लाने को
 जी - जी कर मरते क्या ?

यह व्यापार महा गतिशाली
 कहीं नहीं बसता क्या ?
 क्षणिक विनाशों में स्थिर मंगल
 चुपके से हँसता क्या ?

यह विराग संबंध हृदय का
 कैसी यह मानवता !
 प्राणी को प्राणी के प्रति बस
 बची रही निर्ममता !

जीवन का सन्तोष अन्य का
 रोदन बन हँसता क्यों ?
 एक - एक विश्राम प्रगति को
~~अमरत्व~~ परिकर - सा कसता क्यों ?

दुर्व्यवहार एक का कैसे
 अन्य भूल जावेगा ;
 कौन उपाय ! गरल को कैसे
 अमृत बना पावेगा ! ”

जाग उठी थी तरल वासना
मिली रही मादकता ;
मनु को कौन वहाँ आने से
भला रोक अब सकता !

खुले ^{आँख} मसृण भुज-मूलों से मूँदूँ
वह आमंत्रण था मिलता ;
उन्नत वक्षों में आलिगन
सुख लहरों सा तिरता ।

जगद्वि

नीचा हो उठता जो धीमे
धीमे निश्वासों में ;
जीवन का ज्यों ज्वार उठ रहा
हिमकर के हासों में । पाँदनी

जागृत था सौंदर्य यदापि वह
सोती थी सुकुमारी ;
रूप चंद्रिका में उज्ज्वल थी
आज निशा-सी नारी ।

वे मांसल परमाणु किरण से
विद्युत थे बिखराते ;
अलकों की डोरी में जीवन
कण - कण उलभे जाते ।

विगत विचारों के श्रम-सीकर ५ सीने की बूँद
 बने हुए थे मोती ;
 मुख-मंडल पर करुण कल्पना
 उनको रही पिरोती ।

छूते थे मनु और कंटकित शिंशु
 होती थी वह बेली ; लता
 स्वस्थ व्यथा की लहरों - सी
 जो अंग - लता थी फैली ।

वह पागल सुख इस जगती का
 आज विराट बना था ;
 अंधकार मिश्रित प्रकाश का
 एक वितान तना था ।

कामायनी जगी थी कुछ-कुछ
 खोकर सब चेतनता ;
 मनोभाव आकार स्वयं ही
 रहा बिगड़ता बनता ।

जिसके हृदय सदा समीप है
 वही दूर जाता है ;
 और कोध होता उस पर ही
 जिससे कुछ नाता है ।

प्रिय को ठुकरा कर भी मन की
माया उलझा लेती ;
प्रणय - शिला प्रत्यावर्त्तन में
उसको लौटा देती ।

जलदागम मारुत से कम्पित
पल्लव सदृश हथेली ;
श्रद्धा की, धीरे से मनु ने
अपने कर में ले ली ।

दिव्य अनुनय वाणी में, आँखों में
उपाख्य की छाया ; शिक्षा
कहने लगे “अरे यह कैसी
मानवती की माया !

स्वर्ग बनाया है जो मैंने
उसे न विफल बनाओ ;
अरी अप्सरे ! उस अतीत के
नूतन गान सुनाओ ।

इस निर्जन में ज्योत्स्ना पुलकित
बिधु युत नभ के नीचे ;
केवल हम तुम और कौन है ?
रहो न आँखें मीचे ।

आकर्षण से भरा विश्व यह
 केवल भोग्य हमारा ;
 जीवन के दोनों कूलों में
 बहे वासना - धारा ।

श्रम की, इस अभाव की जगती
 उनकी सब आकुलता ;
 जिस क्षण भूल सकें हम अपनी
 यह भीषण चेतनता ।

वही स्वर्ग की बन अनंतता
 मुसक्याता रहता है ;
 दो बूँदों में जीवन का रस
 लो बरबस बहता है ।

देवों को अर्पित मधु - मिश्रित
 सोम अधर से छू लो ;
 मादकता दोला पर प्रेयसि !
 आओ मिलकर झूलो । ”

श्रद्धा जाग रही थी तब भी
छाई थी मादकता,
मधुर भाव उसके तन-मन में
अपना ही रस छकता। —

बोली एक सहज मुद्रा से
“यह तुम क्या कहते हो ;
आज अभी तो किसी भाव की
धारा में बहते हो।

कल ही यदि परिवर्तन होगा
तो फिर कौन बचेगा ;
क्या जाने कोई साथी बन
नूतन यज्ञ रचेगा !

और किसी की फिर बलि होगी
किसी देव के नाते ;
कितना धोखा ! उससे तो हम
अपना ही सुख पाते।

वे प्राणी जो बचे हुए हैं
इस अचला जगती के ;
उनके कुछ अधिकार नहीं
क्या वे सब ही हैं फीके !

मनु ! क्या यही तुम्हारी होगी
 उज्ज्वल नव मानवता ?
 जिसमें सब कुछ ले लेना हो
 हंत ! बची क्या शक्ती !”

“तुच्छ नहीं है अपना सुख भी
 श्रद्धे ! वह भी कुछ है ;
 दो दिन के इस जीवन का तो
 वही चरम सब कुछ है ।

इंद्रिय की अभिलाषा जितनी
 सतत सफलता पावे ;
 जहाँ हृदय की तृप्ति विलासिनि
 मधुर - मधुर कुछ गावे ।

रोम हर्ष हो उस ज्योत्स्ना में
 मृदु मुसक्यान खिले तो ;
 आशाओं पर श्वास निछावर
 होकर गले मिले तो ।

विश्व माधुरी जिसके सम्मुख
 मुकुर बनी रहती हो ;
 वह अपना सुख स्वर्ग नहीं है !
 यह तुम क्या कहती हो ?

जिसे खोजता फिरता मैं इस
 हिम - गिरि के अंचल में ;
 वही अभाव स्वर्ग बन हँसता
 इस जीवन चंचल में ।

वर्तमान जीवन के सुख से
 योग जहाँ होता है ;
 छली अदृष्ट अभाव बना क्यों
 वहीं प्रकट होता है ।

किन्तु सकल कृतियों की
 अपनी सीमा है हम ही तो ;
 पूरी हो कामना हमारी,
 विफल प्रयास नहीं तो ! ”

एक अचेतनता लाती-सी
 सविनय श्रद्धा बोली;
 “बचा जान यह भाव, सृष्टि ने
 फिर से आँखें खोलीं !

ये ओर
 राखे का
 दिक्कर बिना
 छुट्टी

भेद-बुद्धि निर्मम ममता की
 समझ, बची ही होगी;
 प्रलय पयोनिधि की लहरें भी
 लौट गई ही होंगी।

अपने में सब कुछ भर कैसे
 व्यक्ति विकास करेगा ?
 यह एकांत स्वार्थ भीषण है
 अपना नाश करेगा !

○ ओरों को हँसते देखो मनु
 हँसो और सुख पाओ ;
 अपने सुख को विस्तृत कर लो
 सब को सुखी बनाओ)

। ११ करन
 ११

रचना मूलक सृष्टि यज्ञ यह
 यज्ञ - पुरुष का जो है
 संसृति सेवा भाग हमारा
 उसे विकसने को है !

सुख को सीमित कर अपने में
केवल दुख छोड़ोगे ;

अर्थ इतर प्राणियों की पीड़ा लख
अपना मुँह मोड़ोगे ।

संयुक्ति ये मुद्रित कलियाँ दुल् में सब पात
सौरभ बन्दी कर लें ;
सरस न हो मकरंद बिंदु से
खुल कर तो ये मर लें ।

सूखें, झड़ें और तब कुचले
सौरभ को पाओगे ;
फिर आमोद कहाँ से मधुमय
वसुधा पर लाओगे !

सुख अपने संतोष के लिए
संग्रह मूल नहीं है ;
उसमें एक प्रदर्शन जिसको
देखें अन्य, वही है ।

निर्जन में क्या एक अकेले
तुम्हें प्रमोद मिलेगा ?
नहीं इसी से अन्य हृदय का
कोई सुमन खिलेगा ।

सुख समीर पाकर, चाहे हो
 वह एकांत तुम्हारा ;
 बढ़ती है सीमा संसृति की
 बन मानवता धारा ।”

हृदय हो रहा था उत्तेजित
 बातें कहते कहते ;
 श्रद्धा के थे अधर सूखते
 मन की ज्वाला सहते ।

उधर सोम का पात्र लिये मनु
 समय देखकर बोले—
 “अद्वे ! पी लो इसे बुद्धि के
 बन्धन को जो खोले ।

वही करूँगा जो कहती हो
 सत्य, अकेला सुख क्या !”

यह मनुहार ! रुकेगा प्याला
 पीने से फिर मुख क्या ?

आँखें प्रिय आँखों में, डूबे
 अरुण अधर थे रस में
 हृदय काल्पनिक विजय में सुखी
 चेतनता नस नस में ।

छल वाणी की वह प्रवंचना
 हृदयों की शिशुता का ;
 खेल खिलाती, भुलवाती जो
 उस निर्मल विभुता को ।

जीवन का उद्देश्य, लक्ष्य की
 प्रगति दिशा को पल में
 अपने एक मधुर इंगित से
 बदल सके जो छल में ।

वही शक्ति अवलंब मनोहर
 निज मनु को थी देती ;
 जो अपने अभिनय से मन को
 सुख में उलझा लेती ।

“श्रद्धे, होगी चन्द्रशालिनी - रजनी ।

यह भव रजनी भीमा ;

तुम बन जाओ इस जीवन के

मेरे सुख की सीमा ।

लज्जा का आवरण प्राण को

ढँक लेता है तम से ;

उसे अकिंचन कर देता है

अलगाता “हम तुम” से ।

कुचल उठा आनन्द, यही है

बाधा, दूर हटाओ ;

अपने ही अनुकूल सुखों को

मिलने दो मिल जाओ ।”

और एक फिर व्याकुल चुम्बन

रक्त खौलता जिससे ;

शीतल प्राण धधक उठता है

(थास) तृषा तृप्ति के मिस से । वराना

दो काठों की संधि बीच उस

निभृत गुफा में अपने ;

अग्नि-शिखा बुझ गई, जागने

पर जैसे सुख सपने ।

} निभृत

ईर्ष्या

पल भर की उस चंचलता ने
खो दिया हृदय का स्वाधिकार !
श्रद्धा की अब वह मधुर निशा
फैलाती निष्फल अंधकार !

मनु को अब मृगया छोड़ नहीं
रह गया और था अधिक काम ;
लग गया रक्त था उस मुख में
हिंसा-सुख लाली से ललाम ।

हिंसा ही नहीं और भी कुछ
वह खोज रहा था मन अधीर ।
अपने प्रभुत्व की सुख-सीमा
जो बढ़ती हो अवसाद चीर ।

जो कुछ मनु के करतल-गत था
उसमें न रहा कुछ भी नवीन ;
श्रद्धा का सरल विनोद नहीं
उवक्ष रुचता अब था बन रहा दीन ।

उठती अंतस्तल से सदैव
दुर्ललित लालसा जो कि कांत ;
वह इन्द्रचाप-सी झिलमिल हो
दब जाती अपने आप शांत ।

“निज उद्गम का मुख बंद किये
 कब तक सोयेंगे अलस प्राण ;
 जीवन की चिर चंचल पुकार
 रोये कब तक, है कहाँ प्राण ! श्वा, आश्रय
 श्रद्धा का प्रणय और उसकी
 आरम्भिक सीधी अभिव्यक्ति ;
 जिसमें व्याकुल आलिंगन का
 अस्तित्व न तो है कुशल सूक्ति । पगुराई के अर्थ
 भावनामयी वह स्फूर्ति नहीं
 नव नव स्मित रेखा में विलीन ;
 अनुरोध न तो उल्लास, नहीं
 कुसुमोद्गम-सा कुङ्कुम भी नवीन !
 आती है वाणी में न कभी
 वह चाव-भरी लीला हिलोर ,
 जिसमें नूतनता नृत्यमयी
 इठलाती हो चंचल मरोर ।

जब देखो बैठी हुई वहीं

धा० शांलियाँ बीन कर नहीं आंत !

या अन्न इकट्ठे करती है

होती न तनिक-सी कभी क्लान्त । य० ३२

बीजों का संग्रह और उधर

चलती है तकली भरी गीत ;

सब कुछ लेकर बैठी है वह

मेरा अस्तित्व हुआ अतीत !”

लौटे थे मृगया से थक कर

दिखलाई पड़ता गुफा-द्वार ;

पर और न आगे बढ़ने की

इच्छा होती, करते विचार !

मृग डाल दिया, फिर घनु को भी

मनु बैठ गये शिथिलित शरीर ,

बिखरे थे सब उपकरण वहीं

आयुध, प्रत्यंचा, शृंग, तीर ।

“ पश्चिम की रागमयी संध्या
 अब काली थी हो चली, किन्तु
 अब तक आये न अहेरी वे
 क्या दूर ले गया चपल जंतु ! ”

यों सोच रही मन में अपने
 हाथों में तकली रही घूम ;
 श्रद्धा कुछ-कुछ अनमनी चली
 अलकें लेती थीं गुल्फ चूम ।

केतकी गर्भ-सा पीला मुँह,
 आँखों में आलस-भरा स्नेह ;
 कुछ कशता नई लजीली थी
 कंपित लतिका-सी लिये देह !

मातृत्व बोझ से झुके हुए
 बँध रहे पयोधर पीन आज ;
 कोमल काले ऊनों की नव
 पट्टिका बनाती रुचिर साज ।

सोने की सिकता में मानो
 कालिंदी बहती भर उसास ;
 स्वर्गगा में इंदीवर की
 या एक पंक्ति कर रही हास !

५५२

कटि में लिपटा था नवल वसन

वैसा ही हलका बुना नील ;

ली०

दुर्भर थी गर्भ मधुर पीड़ा

भेलती जिसे जननी सलील । ५५३

श्रम-विदु बना सा झलक रहा

भावी जननी का सरस गर्व ;

बन कुसुम बिखरते थे भू पर

आया समीप था महा पर्व ।

मनु ने देखा जब श्रद्धा का

वह सहज खेद से भरा रूप ,

अपनी इच्छा का दृढ़ विरोध

जिसमें वे भाव नहीं अनूप ।

वे कुछ भी बोले नहीं ; रहे

चुप चाप देखते साधिकार ;

श्रद्धा कुछ - कुछ मुस्करा उठी,

ज्यों जान गई उनका विचार ।

“ दिन भर थे कहाँ भटकते तुम ”

बोली श्रद्धा भर मधुर स्नेह

“ यह हिंसा इतनी है प्यारी

जो भुलवाती है देह - गेह !

मैं यहाँ अकेली देख रही

पथ, सुनती-सी पद-ध्वनि नितांत ;

कानन में जब तुम दौड़ रहे

मृग के पीछे बन कर अशांत !

ढल गया दिवस पीला-पीला

तुम रक्तारुण बन रहे घूम ;

देखो नीड़ों में विहग युगल

अपने शिशुओं को रहे चूम !

उनके घर में कोलाहल है

मेरा सूना है गुफा - द्वार !

तुमको क्या ऐसी कमी रही

जिसके हित जाते अन्य द्वार ? ”

“श्रद्धे ! तुमका कुछ कर्मा नहा
पर मैं तो देख रहा अभाव :
पूर्वी-सी कोई मधुर वस्तु
जैसे कर देती विकल वाव ।

चिर-मुक्त पुरुष वह कब इतने
अवरुद्ध श्वास लेगा निरीह !
गति-हीन पंगु-सा पड़ा-पड़ा
ढह कर जैसे बन रहा डीह ।

जब जड़ बंधन-सा एक मोह
कसता प्राणों का मृदु शरीर ;
आकुलता और जकड़ने की
तब ग्रंथि तोड़ती हो अधीर ।

हंस कर बोले, बोलते हुए
निकले मधु निर्भर ललित गान :
गानों में हो उल्लास भरा
भ्रमे जिससे बन मधुर प्रान ।

वह आकुलता अब कहाँ रही
जिसमें सब कुछ ही जाय भूल :
आशा के कोमल तंतु-सदृश
तुम तकली में हो रही भूल ।

यह क्यों क्या मिलते नहीं तुम्हें
 ५२ श्री कृष्ण शायक के सुन्दर मृदुल चर्म
 तम चीज वीनता क्यों ? मेरा
 मृगया का शिथिल हुआ न कर्म
 तस पर यह पीलापन कैसा
 यह क्यों वुनने का थम सखेद
 यह किसके लिए बताओ तो
 क्या इसमें है छिप रहा भेद ?

“अपनी रक्षा करने में जो
 चल जाय तुम्हारा कहीं अस्त्र ;
 वह तो कुछ समझ सकी हूँ मैं
 हिसक से रक्षा करे शस्त्र ।

५३ पर जो निरीह जीकर भी कुछ ✓
 उपकारी होने में समर्थ ;
 १ क्यों न जिये, उपयोगी बन
 इसका मैं समझ सकी न अर्थ !

चमड़े उनके आवरण रहें
 उनों से मेरा चले काम :
 वे जीवित हो मांसल बन कर
 हम अमृत दुहें, वे दुग्ध-धाम !

{ : द्राह न करने के स्थल है
 जो पाले जा सकते सहंतु ;
 पशु से यदि हम कुछ ऊँचे हैं
 तो भव-जलनिधि में वनें सेतु । 'पुष्प, सहास'

५० मे यह तो मान नहीं सकता
 सुख सहज-स्तब्ध यो छूट जायें :
 जीवन का जो संघर्ष चले
 वह विफल रहे हम छले जायें !

माली आँखों की तारा में,
 मैं देखूँ अपना चित्र धन्य :
 मरग मानस का मुकुर रहे,
 प्रतिबिम्बित तुमने ही अनन्य ।

खे ! यह नव संकल्प नहीं—

चलने का लघु जीवन अमोल ;

उमको निश्चय भोग चलें

जो मुख चलदल-सा रहा डोल । पीपल ना पती

दखा क्या तुमने कभी नहीं

स्वर्गीय सुखों पर प्रलय - नृत्य ?

फिर नाश और चिर निद्रा है

तब इतना क्यों विश्वास सत्य :

यह चिर प्रशांत मंगल की क्यों

अभिलाषा इतनी रही जाग ।

यह संचित क्यों हो रहा स्नेह

किम पर इतनी हो सानुराग :

यह जीवन का वरदान, मुझे

दे दो रानी अपना दुलार !

केवल मेरी ही बिता का

तब चित्त वहन कर रहे भार :

मंग सुन्दरु विश्राम धना

मि प्राणा नृणां ही सृजता हों मधुमय विश्व एक ;

जिसमें बहती हो मधु धारा

लहरें उठती हों एक - एक । ”

“मैंने तो एक बनाया है
चल कर देखो मेरा कुटोर ;”
यों कह कर श्रद्धा हाथ पकड़
मनु को ले चली वही अधीर ।

उम गुफा समीप पुश्तालों की धर
छाजन छोटी - सी शांति - पुंज :
होमल लतिकाओं की डालें
मिल सघन बनाती जहाँ कुंज ।

००
मुस्क

य वातायन भी कटे हुए
प्राचीर पूर्णमय रचित शुभ्र ;
आवे क्षण भर तो चले जायें
रुक जायें कहीं न समीर, अभ्र ।

355/46
००१
पुष्पा

उसमें था झूला पड़ा हुआ
वैतसी लता का सुरचिपूर्ण ;
बिछ रहा धरातल पर धिकना
सुमनों का कोमल सुरभिचूर्ण ।

१०००
१०००
१०००

कितनी मीठी अभिलाषाएँ
 उसमें चुपके से रहीं चूम !
 कितने मंगल के मधुर गान
 उसके कोनों को रहे चूम !

मनु देख रहे थे चकित नया
 यह गृह-लक्ष्मी का गृह-विधान !
 पर कुछ अच्छा-सा नहीं लगा
 'यह क्यों? किसका सुख साभिमान?'

{ चुप थे पर श्रद्धा ही बोली
 "देखो यह तो बन गया नीड़ : धीरे से"
 पर इसमें कलरव करने को
 आकुल न हो रही अभी भीड़ !

तुम दूर चले जाते हो जब
 तब लेकर तकली यहाँ बैठ ;
 मैं उसे फिराती रहती हूँ
 अपनी निर्जनता बीच पेंठ !

मैं बैठी गाती हूँ तकली के
 प्रतिवर्त्तन में स्वर विभोर—
 'चल री तकली धीरे-धीरे
 प्रिय गये खेलने को अहेर।

जीवन का कामल तंतु बंद
 तेरी ही मंजुलता समान ;
 चिर नग्न प्राण उनमें लिपटे
 सुन्दरता का कुछ बंद मान !

करनों-सी तू बुन दे उज्ज्वल
 मेरे मधु जीवन का प्रभात :
 'जसमें निर्वसना प्रकृति सरल
 ढँक ले प्रकाश से नवल गात !

वासना-भरी उन आँखों पर
 आवरण डाल दे कातिमान ;
 'जसमें सौंदर्य निखर आवे
 लतिका में फुल्ल कुसुम समान ।

अब वह आगंतुक गुफा बीच
 पशु-सा न रहे निर्वसन नग्न :
 अपने अभाव की जड़ता में
 वह रह न सकेगा कभी मग्न ।

सूना न रहेगा यह मेरा
 लघु विश्व कभी जब रहोगे न ;
 मैं उसके लिए बिछाऊँगी
 फूलों के रस का मृदुल फेन ।

मूल पर उसे कुलाऊँगी
 दुलरा कर लूँगी बदन चूम :
 मेरी छाती से लिपटा इस
 घाटी में लेगा सहज घूम !

वह आवेगा मृदु मलयज-सा
 लहराता अपने मृणु बाल . *नामक*
 उसके अधरो से फैलेगी
 नव मधुमय स्मृति-लतिका-प्रवाल .

अपना मीठा रसना में वह
 बोलेगा ऐसे मधुर धोल :
 मेरी पीड़ा पर झिड़केगा
 जा कुसुम धूल मकरंद घाल :

मेरी आँखों का सब पानी .
 तब बन जायेगा अमृत स्निग्ध :
 उन निर्विकार नयनों में जब
 देखूँगी अपना चित्र मुग्ध । १०

“तुम फूल उठाोगी लतिका-सी
 कम्पित कर सुख-सौरभ तरंग ;
 मैं सुरभि खोजता भटकूँगा
 वन-वन वन कस्तूरी-कुरंग ।

यह जलन नहीं सह सकता मैं
 चाहिए मुझे मेरा ममत्व ,
 इस पंचभूत की रचना में
 मैं रमण करूँ वन एक तत्व ।

यह द्वैत अरे यह द्विविधा तो
 है प्रेम बाँटने का प्रकार
 भिक्षुक मैं ? ना, यह कभी नहीं
 मैं लौटा लूँगा निज विचार ।

तुम दानशीलता में अपनी
 वन सजल जलद वितरो न विदु ;
 इस मुख-नभ में मैं विचरूँगा
 वन सकल कलाधर शरद-ईंदु ।

भूलें से कभी निहारोगी
 कर आकर्षणमय हास एक :
 मायाविनि ! मैं न उसे लूँगा
 वरदान समझ कर, जानु टेक !

इस दीन अनुग्रह का मुझ पर
 तुम बोझ डालने में समर्थ :
 अपने को मत समझो श्रद्धे !
 होगा प्रयास यह सदा व्यर्थ ।

तुम अपने सुख से सुखी रहो
 मुझको दुख पाने दो स्वतंत्र ;
 'मन की परवशता महा दुःख'
 मैं यही जपूँगा महामंत्र ।

लो चला आज मैं छाड़ यहीं
 संचित संवेदन भार पुंज :
 मुझको काँटे ही मिलें धन्य !
 हो सफल तुम्हें ही कुसुम-कुंज । ”

कह, ज्वलनशील अंतर लेकर
 मनु चले गये, था शून्य प्रातः
 “ रुक जा, मुन ले ओ निर्मोही ! ”
 वह कहती रही अधीर आंत ।

इडा

“ किस गहन गुहा से अति अधीर

भंसा-प्रवाह-सा निकला यह जीवन ^{सच} ^{वायु} ^{अनि} ^{यत्} महासमीर
 ले साथ विकल परमाणु-पुंज नभ, अनिल, अनल क्षिति और नीर
 भयभीत सभी को भय देता भय की उपासना में विलीन
 प्राणी कटुता को वाँट रहा जगती को करता अधिक दीन
 निर्माण और प्रतिपद विनाश में दिखलाता अपनी क्षमता
 संघर्ष कर रहा-सा जब से, सच से विराग सब पर ममता
 अस्तित्व चिरंतन धनु से कब यह छूट पड़ा है विषम तीर
अमर धनु किस लक्ष्य-भेद को शून्य चीर ।

देखे मैंने वे शैल-शृंग ^{क्षुब्ध}

जो अचल हिमानी से राजते, उन्मुक्त, उपेक्षा भरे तुम्ह
 अपने जड़ गौरव के प्रतीक वसुधा^१ का कर अभिमान भड़
 अपनी समाधि में रहे सुखी बह जाती हैं नदियाँ अबो
 कुछ स्वेद बिंदु उसके लेकर वह स्तमित^२ नयन गते शोक-को
 स्थिर मुक्ति, प्रतिष्ठा में वैसी चाहता नहीं इस जीवन व
 में तो अवाध गति मरुत^३ सदृश, है चाह रहा अपने मन व
 जो चूम चला जाता अग जग प्रति पग में कम्पन की तरंग

नभ जलनशील गतिमय पतंग

अपनी ज्वाला से कर प्रकाश

जब छोड़ चला आया सुन्दर प्रारंभिक जीवन का निवास
 वन, गुहा, कुंज, मरु अंचल में हूँ खोज रहा अपना विकास
 पागल मैं, किस पर सदा रह रहा ? क्या मैंने ममता ली न तोड़ ?
 किस पर उदारता से रीझा ! किससे न लगा दी कड़ी होड़ ?
 इस विजन प्रांत में विलख रही मेरी पुकार उत्तर न मिला
 लु-सा झुलसाता दौड़ रहा कब मुझसे कोई फूल खिला
 मैं स्वप्न देखता हूँ उजड़ा कल्पना-लोक में कर निवास
 देखा कब मैंने कुसुम-हास ।

५१ १०

इस दुःखमय जीवन का प्रकाश

नभ नील लता की डालों में उलझा अपने सुख से हताश
 कलियाँ जिनको मैं समझ रहा वे कौंटे बिखरे आस-पास
 कितना बीहड़ पथ चला और पड़ रहा कहीं थक कर नितांत
उन्मुक्त शिखर हँसते मुझ पर रोता मैं निर्वासित अशांत
इस नियति-नटी के अति भीषण अभिनय की छाया नाच रही
खोखली शून्यता में प्रतिपद असफलता अधिक कुलौंच रही
 भावस-रजनी में जगुनृगण को दौड़ पकड़ता मैं निराश
 अंधेरी रात, उन ज्योति-कणों का कर विनाश ।

जीवन-निर्शाथ के अंधकार !

स्वर्ग

तू नील तुहिन जल-निधि बनकर फैला कतना वार-वार
 कितनी चेतनता की किरनें हैं डूब रही ये निर्विकार
 कितना मादक तम, निखिल भुवन भर रहा भूमिका में अभंग
 तू भूत्तिमान हो छिप जाता प्रतिपल के परिवर्तन अनंग
 ममता की क्षीण अरुण रेखा खिलती है तुझमें ज्योति-कला
 जैसे सुहागिनी की उर्मिल अलकों में कुंकुमचूर्ण भला
 रे चिर-निवास विश्राम प्राण के मोह जलद छाया उदाग
 माया रानी के केश भार ।

प्रेमना को

२१/१०/६८

श्री...

जीवन-निर्शाथ के अंधकार !

तू घूम रहा अभिलाषा के नव ज्वलन धूम - सा दुनिवार
 जिसमें अपूर्ण लालसा, कसक, चिनगारी-सा उठती पुकार
 यौवन मधुवन की कालिदी बह रही चूम कर सब दिगंत
 मन-शिशु की क्रीड़ा-नौकाएँ बस दौड़ लगाती हैं अनंत
 कुहुकिनि अपलक दृग के अंजन ! हँसती तुझमें सुन्दर छलना
 धूमिल रेखाओं से सजीव चंचल चित्रों की नव-कलना
 इस चिर-प्रवास श्यामल पथ में छाया पिक प्राणों की पुकार
 बन नील प्रतिध्वनि नभ अपार ।

२१/१०/६८

यह उजड़ा सूना नगर-प्रांत

जिसमें सुख-दुख की परिभाषा विध्वस्त शिल्प सी हो नितांत
 निज विह्वल वक्र रेखाओं से, प्राणी का भाग्य बनी अशांत
 कितनी सुखमय स्मृतियाँ, अपूर्ण रुचि बन कर मँडराती विकीर्ण
 इन ढेरों में दुख भरी कुरुचि दब रही अभी बन पत्र जीर्ण
 आती दुलार को हिचकी-सी सूने कोनों में कसक भरी
 इस सूखे तरु पर मनोवृत्ति आकाश-बेलि-सी रही हरा
जीवन-समाधि के खँडहर पर जो जल उठते दीपक अशांत
 फिर बुझ जाते वे स्वयं शांत । ”

R.C

यों सोच रहे मनु पड़े आंत

श्रद्धा का सुख साधन निवास जब छोड़ चले आये प्रशांत
 पथ-पथ में भटक अटकते वे आये इस ऊजड़ नगर प्रांत
 वहती सरस्वती वेग - भरी निस्तब्ध हो रही निशाम
 नक्षत्र निरखते निनिमेष वसुधा की वह गति विकल वाम
वृत्रघ्नी का वह जनाकीर्ण उपकूल आज कितना सूना
 दंवेश इंद्र की विजय-कथा की स्मृति देती थी दुख दूना
 वह पावन सारस्वत प्रदेश दुःस्वप्न देखता पड़ा क्लांत
 फैला था चारों ओर ध्वांत ।

“जीवन का लेकर नव विचार

जब चला द्वंद्व था असुरों में प्राणों की पूजा का प्रचार
उस ओर आत्म-विश्वास निरत सुर-वर्ग कह रहा था पुकार—

‘मैं स्वयं सतत आराध्य आत्म-मंगल उपासना में विभोर
उल्लास शील में शक्ति-केन्द्र, किसकी खोजूँ फिर शरण और
आनंद उच्छलित शक्ति स्रोत जीवन विकास वैचित्र्य भरा
अपना नव-नव निर्माण किये रखता यह विश्व सदैव हरा—
प्राणों के सुख-साधन में ही, संलग्न असुर करते सुधार

नियमों में बँधते दुर्निवार ।

था एक पूजता देह दीन

दूसरा अपूर्ण अहंता में अपने को समझ रहा प्रवीण
दोनों का हठ था दुर्निवार, दोनों ही थे विश्वास-हीन
फिर क्यों न तर्क को शस्त्रों से वे सिद्ध करें क्यों हो न युद्ध
उनका संघर्ष चला अशान्त वे भाव रहे अब तक विरुद्ध

मुझमें ममत्वमय आत्म-मोह स्वातंत्र्यमयी उच्छ्वलता
हो प्रलय-भीत तन-रक्षा में पूजन करने की व्याकुलता
वह पूर्व द्वंद्व परिवर्तित हो मुझको बना रहा अधिक दीन

सचमुच मैं हूँ श्रद्धा-विहीन ।”

“मनु ! तुम श्रद्धा को गये भूल

(८५)

उस पूर्ण आत्मविश्वासमयी को उड़ा दिया था समझ तूल

तुमने तो समझा असत विश्व जीवन-धागे में रहा भूल

जो क्षण बीतें- सुख-साधन में उनको ही वास्तव लिया मान

वासना-तृप्ति ही स्वर्ग बनी, यह उलटी मति का व्यर्थ ज्ञान

तुम भूल गये पुरुषत्व मोह में कुछ सत्ता है नारी की

समरसता है संबंध बनी अधिकार और अधिकारी की”

जब गूँजी यह वाणी तीखी कम्पित करती अम्बर अकूल

मनु को जैसा चुभ गया शूल

‘यह कौन ? अरे फिर वही काम !

जिसने इस भ्रम में है डाला छीना जीवन का सुख-विराम ?

प्रत्यक्ष लगा होने अतीत जिन घड़ियों का अब शेष नाम

वरदान आज उस गत युग का कम्पित करता है अंतरंग

अभिशाप ताप की ज्वाला से जल रहा आज मन और अंग।’

बोले मनु “क्या मैं भ्रान्त साधना में ही अब तक लगा रहा

क्या तुमने श्रद्धा को पाने के लिए नहीं सस्नेह कहा ?

पाया तो, उसने भी मुझको दे दिया हृदय निज अमृत-धाम

फिर क्यों न हुआ मैं पूर्ण-काम ?”

इडा

मे मनु ल कह रहा है १६३

“मनु! उसने तो कर दिया दान

वह हृदय प्रणय से पूर्ण सरल जिसमें जीवन का भरा मान
जिसमें चेतनता ही केवल निज शान्त प्रभा से ज्योतिमान
पर तुने तो पाया सदैव उसकी सुन्दर जड़ देह-मात्र
सौन्दर्य-जलधि से भर लाये केवल तुम अपना गरल पात्र
तुम अति अबोध, अपनी अपूर्णता को न स्वयं तुम समझ सके
परिणय जिसको पूरा करता उससे तुम अपने आप रुके
‘कुछ मेरा हो’ यह राग भाव संकुचित पूर्णता है अजान
मानस जलनिधि का क्षुद्र यान।

कवि मनु ल कह रहा है १६३

हैं अब तुम बनने को स्वतंत्र

सब कलुष ढाल कर औरों पर रखते हो अपना अलग तंत्र
द्वंद्वों का उद्गम तो सदैव शाश्वत रहता वह एक मंत्र
डाली में कंटक संग कुसुम खिलते मिलते भी हैं नवीन
अपनी रुचि से तुम बिधे हुए जिसको चाहे ले रहे बीन
तुमने तो प्राणमयी ज्वाला का प्रणय-प्रकाश न ग्रहण किया
हैं जलन वासना को जीवन भ्रम तम में पहला स्थान दिया
अब विकल प्रवर्तन हो ऐसा जो नियति-चक्र का बने यंत्र
हो शाप भरा तब प्रजातंत्र।

यह अभिनव मानव प्रजा-सृष्टि

द्रव्यता में लगी निरंतर ही वणों की करती रहे वृष्टि
 अनजान समस्याएँ गढ़ती रचती हो अपनी ही विनष्टि
 कोलाहल-कलह अनंत चले, एकता नष्ट हो बड़े भेद
 अभिलषित वस्तु तो दूर रहे, हों मिले अनिच्छित दुखद खेद
 हृदयों का हो आवरण सदा अपने वक्षस्थल की जड़ता
 पहचान सकेंगे नहीं परस्पर चले विश्व गिरता-पड़ता
 सब कुछ भी हो यदि पास भरा पर दूर रहेगी सदा तृष्टि
 दुख देगी यह संकुचित दृष्टि।

अनवरत उठे कितनी उमंग

चुम्बित हों आँसू जलधर से अभिलाषाओं के शैल-शृङ्ग
 जीवन-नद हाहाकार भरा, हो उठती पीड़ा की तरंग
 लालसा भरे यौवन के दिन पतझड़-से सूखे जाँय बीत
 संदेह नये उत्पन्न रहें उनसे संतप्त सदा सभीत
 फैलेगा स्वजनों का विरोध बन कर तम वाली श्याम अमा
 दारिद्र्य-दलित बिलखाती हो यह शस्य-श्यामला प्रकृति रमा
 दुख नीरद में बन इंद्रधनुष बदले नर कितने नये रंग
 बन तृष्णा-ज्वाला का पतंग।

वह प्रेम न रह जाये पुनीत पक्ष

अपने स्वार्थों से आवृत हो मंगल रहस्य सकुचे सभीत
 सारी संसृति हो विरह भरी, गाते ही बीतें करुण गीत
 आकांक्षा-जलनिधि की सीमा हो क्षितिज निराशा सदा रक्त
 तुम राग-विराग करो सबसे अपने को कर शतशः विभक्त
 सुस्तिष्क हृदय के हो विरुद्ध दोनों में हो सद्भाव नहीं
 वह चलने को जब कहे कहीं तब हृदय विकल चल जाय कहीं
 रोकर ब्रीतें सब वर्तमान क्षण सुन्दर सपना हो अतीत
 पैगों में भूले हार जीत।

सूक्त

संकुचित असीम अमोघ शक्ति

जीवन को बाधामय पथ पर ले चले भेद से भरी भक्ति
 या कभी अपूर्ण अहंता में हो रागमयी-सी महाशक्ति
 व्यापकता नियति प्रेरणा बन अपनी सीमा में रहे बंद
 सर्वज्ञ ज्ञान का क्षुद्र अंश विद्या बन कर कुछ रचे छंद
 कर्तृत्व सकल बन कर आवे नश्वर छाया सी ललित कला
 नित्यता विभाजित हो पल-पल में काल निरंतर चले ढला
 तुम समझ न सको, बुराई से शुभ इच्छा की है बड़ी शक्ति
 हो विफल तर्क से भरी युक्ति।

जीवन सारा बन जाय युद्ध

उस रक्त अग्नि की वर्षा में बह जायँ सभी जो भाव शुद्ध

अपनी शंकाओं से व्याकुल तुम अपने ही होकर विरुद्ध

अपने को आवृत किये रहो दिखलाओ निज कृत्रिम स्वरूप

वसुधा के समतल पर उन्नत चलता-फिरता हो दुंभ स्तूप

श्रद्धा इस संसृति की रहस्य व्यापक विशुद्ध विश्वासमयी

सब कुछ देकर नव निधि अपनी तुम से ही तो वह छली गई

हो वर्तमान से वंचित तुम अपने भविष्य में रहो रुद्ध

सारा प्रपंच ही हो अशुद्ध।

5/11/74

तुम जरा-मरण में चिर अश्रान्त

जिसको अब तक समझे थे सब जीवन में परिवर्तन अनंत

अमरत्व वही अब भूलेगा तुम व्याकुल उसको कहो अंत

दुखमय चिर चितन के प्रतीक ! श्रद्धा वंचक बनकर अधीर

मानव संतति ग्रह रश्मि रज्जु से भाग्य बाँध पीटे लकीर

‘कल्याण-भूमि यह लोक’ यही श्रद्धा रहस्य जाने न प्रजा

अतिचारी मिथ्या मान इसे परलोक वञ्चना से भर जा

आशाओं में अपने निराश निज बुद्धि विभव से रहे भ्रान्त

वह चलता रहे सदैव भ्रान्त ।”

अभिशाप प्रतिध्वनि हुई लीन

नभ-सागर के अंतस्तल में जैसे छिप जाता महा मीन ^{नी}
 मृदु मरुत लहर में फेनोपम तारागण झिलमिल हुए दीन
 निस्तब्ध मौन था अखिल लोक तंद्रालस था वह विजन प्रांत ^{नि}
 रजनी तम पुंजीभूत सदृश मनु श्वास ले रहे थे अशांत
 वे सोच रहे थे “आज वही मेरा अदृष्ट बन फिर आया
 जिसने डाली थी जीवन पर पहले अपनी काली छाया
 लिख दिया आज उसने भविष्य ! यातना चलेगी अंत-हीन
 अब तो अवशिष्ट उपाय भी न।”

२२/१०/२०१६ के सत्रावधि का का.प्र.प. २६१/१६

करती सरस्वती मधुर नाद

बहती थी श्यामल घाटी में निर्लिप्त भाव सी अप्रभाद-
 सब उपल उपेक्षित पड़े रहे जैसे वे निष्ठुर जड़ विषाद
 वह थी प्रसन्नता की धारा जिसमें था केवल मधुर गान
 थी कर्म निरंतरता प्रतीक चलता था स्ववश अनंत ज्ञान
 हिम-शीतल लहरों का रह-रह कूलों से टकराते जाना
 आलोक अरुण किरणों का उन पर अपनी छाया बिखराना
 अद्भुत था ! निज निर्मित पथ का वह पथिक चल रहा निर्विवाद
 कहता जाता कुछ सु-संवाद ।

१६८ १५११/१५१२

प्रकृति का वाष्पन

कामायनी

प्राची में फैला मधुर राग जिसके मंडल में एक कमल खिल उठा सुनहला भर पराग
जिसके परिमल से व्याकुल हो श्यामल कलरव सब उठे जाग
आलोक-रश्मि से बुने उषा अंचल में आंदोलन अमंद
करता, प्रभात का मधुर पवन सब ओर वितरने को मरंद
उस रम्य फलक पर नवल चित्र सी प्रकट हुई सुन्दर बाला
वह नयन महोत्सव की प्रतीक अस्लान नलिन की नव माला
सुपमा का मंडल सुस्मित-सा बिखराता संसृति पर सुराग
सोया जीवन का तम विराग ।

बिखरी अलकें ज्यों तर्क-जाल

वह विश्व मुकुट-सा उज्ज्वलतम शशिखंड-सदृश था स्पष्ट भाल
दो पद्म पलाश चषक से दृग देते अनुराग-विराग ढाल
गुंजरित मधुप से मुकुल-सदृश वह अनेन जिसमें भरा गान
वक्षस्थल पर एकत्र धरे संसृति के सब विज्ञान-ज्ञान
था एक हाथ में कर्म-कलश वसुधा जीवन रस सार लिये
दूसरा विचारों के नभ को था मधुर अभय अवलंब दिये
त्रिबली थी त्रिगुण तरंगमयी, आलोक वसन लिपटा आल
चरणों में थी गति भरी ताल ।

शांति

नीरव थी प्राणों की पुकार

मूर्छित जीवन-सर निस्तरंग नीहार घिर रहा था अपार कु
 निस्तब्ध अलस बन कर सोई चलती न रही चंचल व्याार वा
 पीता मन मुकुलित कंज आप अपनी मधु वृंदें मधुर मौन २५
 निस्वन दिगंत में रहे रुद्ध सहसा बोले मनु "अरे कौन
 आलोकमयी स्मिति चेतनता आई यह हेमवती छाया"
 तंद्रा के स्वप्न तिरोहित थे बिखरी केवल उजली माया
 वह स्पर्श दुलार पुलक से भर बीते युग को उठता पुकार
 प्राणों के, कहे, वीचियाँ नाचती बार-बार।

प्रतिभा प्रसन्न मुख सहज खोल

वह बोली "मैं हूँ इड़ा, कहो तुम कौन यहाँ पर रहे डोली"
 नासिका नुकीली के पतले पुट फरक रहे कर स्मित अमोल
 "मनु मेरा नाम सुनो बाले ! मैं विश्व पथिक सह रहा क्लेश"
 "स्वागत ! पर देख रहे हो तुम यह उजड़ा सारस्वत प्रदेश
 भौतिक हलचल से यह चंचल हो उठा देश ही था मेरा
 इसमें अब तक हूँ पड़ी इसी आशा से आये दिन मेरा।"

* * *
 * * *

"मैं तो आया हूँ देवि बता दो जीवन का क्या सहज मोल
 भुव के भविष्य का द्वार खोल !

इस विश्व कुहर में इंद्रजाल

जिसने रच कर फैलाया है यह तारा विद्युत नखत माल
सागर की भीषणतम तरंग सा खेल रहा वह महाकाल
तब क्या इस वसुधा के लघु-लघु प्राणी को करने को सभीत
उस निष्ठुर की रचना कठोर केवल विनाश की रही जीत
तब मूर्ख आज तक क्यों समझे हैं सृष्टि उसे जो नाशमयी
उसका अधिपति ! होगा कोई, जिस तक दुख की न पुकार गयी
सुख-नीड़ों को घेरै रहता अविरत विषाद का चक्रवाल
किसने यह पट है दिया डाल ।

planer

शनि का सुदूर वह नील लोक

जिसकी छाया-सा फैला है ऊपर-नीचे यह गगन शोक
उसके भी परे सुना जाता कोई प्रकाश का महा ओक
वह एक किरन अपनी देकर मेरी स्वतंत्रता में सहाय
क्या बन सकता है ? नियति-जाल से मुक्ति-दान का कर उपाय ”

*

*

*

“ कोई भी हो वह क्या बोले, पागल बन नुर निर्भर न करे
अपनी दुर्बलता, बल सम्हाल गंतव्य मार्ग पर पैर धरे ;
मत कर पसार निज पैरों चल, चलने की जिसको रहे भोंक
उसको कब कोई सके रोक ।

“हाँ तुम ही हो अपने सहाय?

जो बुद्धि कहे उसको न मान कर फिर किसकी नर शरण जाय
जितने विचार संस्कार रहे उनका न दूसरा है उपाय
यह प्रकृति परम रणमीय अखिल ऐश्वर्य भरी शोधक विहीन }
तुम उसका पटल खोलने में परिकर कस कर बन कर्मलीन
सबका नियमन शासन करते बस बढ़ा चलो अपनी क्षमता
तुम ही इसके निर्णायक हो, कहीं विषमता या समता
तुम जड़ता को चेतन्य करो विज्ञान सहज साधन उपाय

यश अखिल लोक में रहे छाये।”

“*practice makes a man perfect*”

आत्मज्ञानो

हँस पड़ा गगन वह शून्य लोक

जिसके भीतर बस कर उजड़े कितने ही जीवन मरण शोक
कितने हृदयों के मधुर मिलन क्रंदन करते बन विहर कोक
ले लिया भार अपने सिर पर मनु ने यह अपना विषम आज
हँस पड़ी उषा प्राची नभ में देखे नर अपना राज-काज
चल पड़ी देखने वह कौतुक चंचल मलयाचल की बाला
लख लाली प्रकृति कपोलों में गिरता तारा-दल मतवाला

उन्निद्र कमल-कानन में होती थी मधुपों की नोक-झोंक
वसुधा विस्मृत थी सकल शोक।

१७२

mg. Kc

जीवन-निशीथ

कामायनी

“जीवन-निशीथ का अंधकार”

(११)
३३

भग रहा क्षितिज के अंचल में मुख आवृत्त कर तुमको निहार
तुम इड़े उषा-सी आज यहाँ आयी हो बन कितनी उदार
कलरव कर जाग पड़े मेरे ये मनोभाव सोये विहंग
हँसती प्रसन्नता चाव-भरी बन कर किरनों की-सी तरंग
अवलंब छोड़ कर औरों का जब बुद्धिवाद को अपनाया
मैं बड़ा सहज, तो स्वयं बुद्धि को मानो आज यहाँ पाया
मेरे विकल्प संकल्प बनें, जीवन हो कर्मों की पुकार

अम

सुख-साधन का हो खुला द्वार।”

स्वप्न

संध्या अरुण जलज केसर ले अब तक मन थी बहलाती,
 मुरझा कर कब गिरा तामरस, उसको खोज कहाँ पाती !
 क्षितिज-भाल का कुंकुम मिटता मलिन कालिमा के कर से,
 कोकिल की काकली वृथा ही अब कलियों पर मँडराती ।

कामायनी कुसुम वसुधा पर पड़ी, न वह मकरंद रहा ;
 एक चित्र बस रेखाओं का, अब उसमें है रंग कहाँ !
 वह प्रभात का हीन कला शशि, किरन कहाँ चाँदनी रही,
 वह संध्या थी, रवि शशि तारा ये सब कोई नहीं जहाँ ।

जहाँ तामरस इंदीवर या सित शतदल हैं मुरझाये,
 अपने नालों पर, वह सरसी श्रद्धा थी, न मधुप आये ;
 वह जलधर जिसमें चपला या श्यामलता का नाम नहीं,
 शिशिर कला की क्षीण स्रोत वह जो हिमतल में जम जाये ।

एक मौन वेदना विजन की, झिल्ली की झनकार नहीं,
 जगती की अस्पष्ट उपेक्षा एक कसक साकार रही ;
 हरित कुंज की छाया भर थी वसुधा आलिंगन करती,
 वह छोटी-सी विरह नदी थी जिसका है अब पार नहीं ।

उपेक्षा

नील गगन में उड़ती-उड़ती विहग-बलिका-सी किरनें,
 स्वप्न लोक को चलीं थकी-सी नींद सेज पर जा गिरने ;
 किन्तु विरहिणी के जीवन में एक घड़ी विश्राम नहीं,
 बिजली-सी स्मृति चमक उठी तब, लगे जभी तम घन घिरने ।

पद्म

संध्या नील सरोरुह से जो श्याम पराग बिखरते थे,
 शैल-घाटियों के अंचल को वे धीरे से भरते थे;
 तृण-गुल्मों से रोमांचित नग सुनते उस दुख की गाथा,
 श्रद्धा की सुनी साँसों से मिल कर जो स्वर भरते थे:—

गंगा

“जीवन में सुख अधिक या कि दुख, मंदाकिनि कुछ बोलोगी?
 नभ में नखत अधिक, सागर में या बुदबुद हैं गिन दोगी?
 प्रतिबिम्बित हैं तारा तुम में, सिंधु मिलन को जाती हो,
 “या दोनों प्रतिबिम्ब एक के इस रहस्य को खोलोगी!”

इस अवकाश पटी पर जितने चित्र बिगड़ते-बनते हैं,
 उनमें कितने रंग भरे जो सुरधनु पट से छनते हैं;
 किन्तु सकल अणु पल में घुलकर व्यापक नील शून्यता-सा,
 जगती का आवरण वेदना का धूमिल पट बुनते हैं।

दग्ध श्वास से आह न निकले सजल कुहू में आज यहाँ!
 कितना स्नेह जला कर जलता ऐसा है लघु दीप कहाँ?
 बुझ न जाय वह साँझ-किरन-सी दीप-शिखा इस कुटिया की,
 शलभ समीप नहीं तो अच्छा, सुखी अकेले जले यहाँ!

१. अमावास्या-रात।

आज सुनूँ केवल चुप होकर, कोकिल जो चाहे कह ले,
पर न परागों की वैसी है चहल-पहल जो थी पहले;
इस पतझड़ की सूनी डाली और प्रतीक्षा की संध्या,
कामायनि ! तू हृदय कड़ा कर धीरे-धीरे सब सह ले !

{ बिरल डालियों के निकुञ्ज सब ले दुख के निश्वास रहे,
उस स्मृति का समीर चलता है मिलन-कथा फिर कौन कहे ?
आज विश्व अभिमानी जैसे रूठ रहा अपराध बिना, ^{मरु}
किन चरणों को धोयेंगे जो अश्रु पलक के पार बहे ! ^{जह}

अरे मधुर हैं कष्ट-पूर्ण भी जीवन की बीती घड़ियाँ !
जब निस्संबल होकर कोई जोड़ रहा बिखरी कड़ियाँ;
वही एक जो सत्य बना था चिर सुन्दरता में अपनी,
छिपा कहीं, तब कैसे सुलभे उलझों सुख-दुख की लड़ियाँ !

{ विस्मृत हों वे बीती बातें, अब जिनमें कुछ सार नहीं, ^१
वह जलती छाती न रही अब वैसा शीतल प्यार नहीं;
सब अतीत में लीन हो चलीं, आशा, मधु अभिलाषाएँ, ^२
प्रिय की निष्ठुर विजय हुई, पर यह तो मेरी हार नहीं !

^३
वे आलिङ्गन एक पाश थे, स्मिति चपला थी, आज कहाँ ?
और मधुर विश्वास ! अरे वह पागल मन का मोह रहा;
वंचित जीवन बना समर्पण यह अभिमान अकिंचन का,
कभी दे दिया था कुछ मैंने, ऐसा अब अनुमान रहा ।

विनिमय प्राणों का वह कितना भय-संकुल व्यापार अरे !

देना हो जितना दे दे तू, लेना ! कोई यह न करे !

। परिवर्त्तन की तुच्छ प्रतीक्षा पूरी कभी न हो सकती ;

संध्या रवि देकर पाती है इधर-उधर उडुगन बिखरे।

स्मृति

वे कुछ दिन जो हँसते आये अंतरिक्ष अरुणाचल से,

फूलों की भरमार स्वरों का कूजन लिये कुहक बल से :

फैल गयी जब स्मिति की माया, किरन-कली की क्रीड़ा से,

चिर प्रवास में चले गये वे आने को कह कर छल से ।

जब शिरीष की मधुर गंध से मान भरी मधु ऋतु रातें,

रूठ चली जाती रक्षितम-मुख, न सह जागरण की घातें ;

दिवस मधुर आलाप कथा-सा कहता छा जाता नभ में,

वे जगते सपने अपने तब तारा बनकर मुसक्याते ।”

वन बालाओं के निकुंज सब भरे वैष्णु के मधु स्वर से,

लौट चुके थे आने वाले सुन पुकार अपने घर से,

किन्तु न आया वह परदेसी युग छिप गया प्रतीक्षा में,

रजनी की भींगी पलकों से तुहिन - विदु कण - कण बरसे ।

मानस का स्मृति शतदल खिलता, झरते विदु मरंद घने,

मोती कठिन पारदर्शी ये, इनमें कितने चित्र बने !

आँसू सरल तरल विद्युत्कण, नयनालोक विरह तम में,

प्राण पथिक यह संबल लेकर लगा कल्पना - जग रचने ।

त अरुण जलज के शोण कोण थे नव तुषार के बिंदु भरे,
 मुकुर-चूर्ण बन रहे प्रतिच्छवि कितनी साथ लिये बिखरे !
 वह अनुराग हँसी दुलार की पंक्ति चली सोने तम में,
 वर्षा विरह कुह में जलते स्मृति के जुगुनू डरे-डरे।

सूने गिरि-पथ में गुजारित शृंगनाद की ध्वनि चलती,
 आकांक्षा लहरी दुख-तटिनी पुलिन अंक में थी ढलती,
 जले दीप नभ के, अभिलाषा-शलभ उड़े, उस ओर चले, ५१
 भरा रह गया आँखों में जल बुझी न वह ज्वाला जलती ५१-॥

“माँ”—फिर एक किलक दूरागत गूँज उठी कुटिया सूनी,
 माँ उठ दौड़ी भरे हृदय में लेकर उत्कंठा दूनी;
 लुटरी खुली अलक, रज-धूसर बाहें आकर लिपट गईं,
 निशा तापसी की जलने को घघक उठी बुझती धूनी !

“कहाँ रहा नटखट ! तू फिरता अब तक मेरा भाग्य बना !
 अरे पिता के प्रतिनिधि, तू ने भी सुख-दुख तो दिया घना;
 चंचल तू, बनचर मृग बन कर भरता है चौकड़ी कहीं,
 मैं डरती तू रूठ न जाये करती कैसे त्रुफे मना !”

“मैं रूढ़ूँ माँ और मना तू, कितनी अच्छी बात कही,
ले मैं सोता हूँ अब जाकर, बोलूँगा मैं आज नहीं;
पके फलों से पेट भरा है नींद नहीं खुलने वाली।”
श्रद्धा चुम्बन ले प्रसन्न कुछ, कुछ विषाद से भरी रही।

जल उठते हैं लघु जीवन के मधुर-मधुर वे पल हलके,
मुक्त उदास गगन के उर में छाले बन कर जा झलके;
दिवा-श्रांत आलोक-रश्मियाँ नील निलय में छिपी कहीं,
करुण वही स्वर फिर उस संसृति में बह जाता है गल के।

प्रणय किरण का कोमल बंधन मुक्ति ^{मोक्ष} बना बढ़ता जाता,
दूर, किन्तु कितना प्रतिपल वह हृदय समीप हुआ जाता!
मधुर चाँदनी-सी तंद्रा जब फैली मूर्छित मानस पर,
तब अभिन्न प्रेमास्पद उसमें अपना चित्र बना जाता!

कामायनी सकल अपना सुख स्वप्न बना सा देख रही,
युग-युग की वह विकल प्रतारित मिटी हुई बन लेख रही;
जो कुसुमों के कोमल दल से कभी पवन पर अंकित था,
आज पपीहा की पुकार बन नभ में खिंचती रेख रही!

इड़ा अग्नि - ज्वाला - सी आगे जलती है उल्लास भरी,
मनु का पथ आलोकित करती विपद - नदी में बनी तरी;
उन्नति का आरोहण, महिमा शैल - शृंग - सी, आंति नहीं,
तीव्र प्रेरणा की धारा सी बही वहीं उत्साह भरी।

वह सुन्दर आलोक किरन सी हृदय भेदिनी दृष्टि लिये,
जिधर देखती, खुल जाते हैं तम ने जो पथ बंद किये!
मनु की सतत सफलता की वह उदय विजयिनी तारा थी,
आश्रय की भूखी जनता ने निज श्रम के उपहार दिये!

मनु का नगर बसा है सुन्दर सहयोगी हैं सभी बने,
हृद प्राचीरों में मंदिर के द्वार दिखाई पड़े घने;
वर्षा धूप शिशिर में छाया के साधन सम्पन्न हुए,
खेतों में हैं कृषक चलाते हल प्रमुदित श्रम - स्वेद सने।

उधर घातु गलते, बनते हैं आभूषण औ' अस्त्र नये,
कहीं साहसी ले आते हैं मृगया के उपहार नये;
पुष्पलावियों चुनती है वन - कुसुमों की अध - विकच कली,
गंध चूर्ण था लोभ्र कुसुम रज, जुटे नवीन प्रसाधन ये।

घन के आघातों से होती जो प्रचंड ध्वनि रोष भरी,
तो रमणी के मधुर कण्ठ से हृदय-मूर्च्छना उधर ढरी;
अपने वर्ग बना कर श्रम का करते सभी उपाय वहाँ,
उनकी मिलित प्रयत्न-प्रथा से पुर की श्री दिखती निखरी।

देश काल का लाघव करते वे प्राणी चंचल से हैं ,
 सुख साधन एकत्र कर रहे जो उनके संवल में हैं ;
 बढ़े ज्ञान व्यवसाय, परिश्रम बल की विस्तृत छाया में ,
 नर प्रयत्न से ऊपर आवें जो कुछ बसुधा तल में है ।

सृष्टि बीज अंकुरित, प्रफुल्लित, सफल हो रहा हरा-भरा !
 प्रलय बीच भी रक्षित मनु से वह फैला उत्साह भरा ;
 आज स्वचेतन प्राणी अपनी कुशल कल्पनाएँ करके ,
 स्वावलम्ब की दृढ़ धरणी पर खड़ा नहीं अब रहा डरा ।

श्रद्धा उस आश्चर्य्य-लोक में ^{स्त्री} मलय-बालिका सी चलती ,
^{स्त्री} सिंहद्वार के भीतर पहुँची, खड़े प्रहरियों को बलती ;
 ऊँचे स्तम्भों पर वलभी-युत बने रम्य प्रासाद वहाँ ,
 धूप धूम सुरभित गृह, जिनमें थी अलोक-शिखा जलती ;

स्वर्ण कलश शोभित भवनों से लगे हुए उद्यान बने ,
 अजु-प्रशस्त पथ बीच-बीच में, कहीं लता के कुञ्ज घने ;
 जिनमें दम्पति समुद विहरते, प्यार भरे दे गलबाहीं ,
 गूँज रहे थे मधुप रसीले, मदिरा-मोद पराग सने ।

देवदारु के वे प्रलम्ब भुज, जिनमें उलझी वायु-तरंग ,
^क मुखरित आभूषण से कलरव करते सुन्दर बाल विहंग ;
^{रिंग} आश्रय देता वेणु वनों से निकली स्वर लहरी ध्वनि को ,
^{ब्र} नागकेसरों की क्यारी में अन्य सुमन भी थे बहुरंग ।

नव मंडप में सिंहासन सम्मुख कितने ही मंच तहाँ ,
 एक ओर रखे हैं सुन्दर मढ़े चर्म से सुखद वहाँ ;
 आती है शैलेय अगरु की धूम-गंध आमोद भरी ,
 श्रद्धा साच रही सपने में 'यह लो मैं आ गयी कहाँ?'

और सामने देखा उसने निज दृढ़ कर में चषक लिये ,
 मनु, वह क्रतुमय पुरुष ! वही मुख संध्या की लालिमा पिये ।
 मादक भाव सामने, सुन्दर एक चित्र-सा कौन यहाँ ,
 जिसे देखने को यह जीवन मर-मर कर सौ बार जिये ?

इड़ा ढालती थी वह आसव, जिसकी बुझती प्यास नहीं ,
 तृषित कंठ को, पी-पी कर भी, जिसमें है विश्वास नहीं ;
 वह वैश्वानर की ज्वाला सी, मंच वेदिका पर बैठी ,
 सौमनस्य खिराती शीतल, जड़ता का कुछ भास नहीं ।

मनु ने पूछा "और अभी कुछ करने को है शेष यहाँ?"
 बोली इड़ा "सफल इतने में अभी कर्म सविवेध कहाँ!
 क्या सब साधन स्ववश हो चुके?" "नहीं अभी मैं रिक्त रहा—
 देश बसाया पर उजड़ा है सूना मानस देश यहाँ।

सुन्दर मुख, आँखों की आशा, किंतु हुए ये किसके हैं ;
 एक बाँकपन प्रतिपद शशि का, भरे भाव कुछ रिस के हैं ;
 कुछ अनुरोध मान-मोचन का करता आँखों में संकेत ,
 बोल अरी मेरी चेतनते ! तू किसकी, ये किसके हैं ?”

“प्रजा तुम्हारी, तुम्हें प्रजापति सबका ही गुनती हूँ मैं ,
 यह सन्देह भरा फिर कैसा नया प्रश्न सुनती हूँ मैं”

“प्रजा नहीं, तुम मेरी रानी मुझे न अब भ्रम में डालो ,
 ३१ मधुर मराली ! कहो ‘प्रणय के मोती अब चुनती हूँ मैं ।’

मेरा भाग्य-गगन धुँधला सा, प्राची पट-सी तुम उसमें ,
 खुल कर स्वयं अचानक कितनी प्रभा पूर्ण हो छवि यश में ।
 मैं अतृप्त आलोक भिखारी ओ प्रकाश-बालिके ! बता ,
 कब डूबेगी प्यास हमारी इन मधु अधरों के रस में ?

“ये सुख-साधन और रुपहली रातों की शीतल छाया ,
 स्वर संचरित दिशाएँ, मन है उन्मद और शिथिल काया ;
 तब तुम प्रजा बनो मत रानी !” नर पशु कर हुंकार उठा , भरे
 उधर फैलती मंदिर घटा सी अंधकार की घन माया ।

आलिंगन ! फिर भय का कंदन ! वसुधा जैसे काँप उठी !
वह अतिचारी, दुर्बल नारी परित्राण पथ नाप उठी !
अंतरिक्ष में हुआ रुद्र हुंकार भयानक हलचल थी,
अरे आत्मजा प्रजा ! पाप की परिभाषा बन शाप उठी !

उधर गगन में क्षुब्ध हुईं सब देव - शक्तियाँ कोष-भरी,
रुद्र नयन खुल गया अचानक, व्याकुल काँप रही नगरी ;
अतिचारी था स्वयं, प्रजापति, देव अभी शिव बने रहें !
नहीं ; इसी से चढ़ी शिंजिनी अजगव पर प्रतिशोध भरी !
प्रकृति त्रस्त थी, भूतनाथ ने नृत्य-विकम्पित पद अपना ,
उधर उठाया, भूत सृष्टि सब होने जाती थी सपना !
आश्रय पाने को सब व्याकुल, स्वयं कलुष में मनु संदिग्ध ,
फिर कुछ होगा यही समझ कर वसुधा का थर - थर काँपना !

काँप रहे थे प्रलयमयी कीड़ा से सब आशंकित जन्तु ,
अपनी - अपनी पड़ी सभी को, छिन्न स्नेह का कोमल तंतु ;
आज कहाँ वह शासन था जो रक्षा का था भार लिये ,
इड़ा क्रोध लज्जा से भर कर बाहर निकल चली थी किंतु !

देखा उसने, जनता व्याकुल राज द्वार कर रुद्ध रही ,
प्रहरी के दल भी झुक आये उनके भाव विशुद्ध नहीं ;
नियमन एक झुकाव दबा सा, टूटे या ऊपर उठ जाय !
प्रजा आज कुछ और सोचती अब तक जो अविरुद्ध रही !

कोलाहल में घिर, छिप बैठे मनु, कुछ सोच विचार भरे,
 द्वार बंद लख प्रजा त्रस्त सी, कैसे मन फिर धैर्य घरे !
 शक्ति तरंगों में आंदोलन, रुद्र क्रोध भीषण तम था,
 महानील - लोहित - ज्वाला का नृत्य सभी से उधर परे ।

वह विज्ञानमयी अभिलाषा, पंख लगा कर उड़ने की,
 जीवन की असीम आशाएँ कभी न नीचे मुड़ने की;
 अधिकारों की सृष्टि और उनकी वह मोहमयी माया,
 बगों की खोंईं बन फैली कभी नहीं जो जुड़ने की !

असफल मनु कुछ क्षुब्ध हो उठे, आकस्मिक बाधा कैसी !
 समझ न पाये कि यह हुआ क्या, प्रजा जुटी क्यों आ ऐसी !
 परित्राण प्रार्थना विकल थी देव क्रोध से बन विद्रोह,
 इड़ा रही जब वहाँ ! स्पष्ट ही वह घटना कुचक्र जैसी ।

“द्वार बन्द कर दो इनको तो अब न यहाँ आने देना,
 प्रकृति आज उत्पात कर रही, मुझको बस सोने देना ;”
 कह कर यों मनु प्रगट क्रोध में, किंतु डरे - से थे मन में,
 शयन - कक्ष में चले सोचते जीवन का लेना - देना !

श्रद्धा काँप उठी सपने में, सहसा उसकी आँख खुली,
 यह क्या देखा मैंने ? कैसे वह इतना हो गया छली ?
 स्वजन स्नेह में भय की कितनी आशंकाएँ उठ आतीं,
 अब क्या होगा, इसी सोच में व्याकुल रजनी बीत चली ।

संघर्ष

श्रद्धा का था स्वप्न किन्तु वह सत्य बना था ,
इड़ा संकुचित उधर प्रजा में क्षोभ घना था ।

भौतिक विप्लव देख विकल वे थे घबराये ,
राज शरण में त्राण प्राप्त करने को आये ।

किन्तु मिला अपमान और व्यवहार बुरा था ,
मनस्ताप से सब के भीतर रोष भरा था ।

क्षुब्ध निरखते बदन इड़ा का पीला-पीला ,
उधर प्रकृति की रुकी नहीं थी तांडव-लीला ।

प्रांगण में थी भीड़ बढ़ रही सब जुड़ आये ,
प्रहरी गण कर द्वार बंद थे ध्यान लगाये ।

रात्रि घनी कालिमा पटी में दबी - लुकी सी ,
रह रह होती प्रगट मेघ की ज्योति झुकी सी ।

मनु चिन्तित - से पड़े शयन पर सोच रहे थे ,
क्रोध और शंका के श्वापद नोच रहे थे ।

“मैं यह प्रजा बना कर कितना तुष्ट हुआ था ;
किन्तु कौन कह सकता इन पर रुष्ट हुआ था ।

कितने जव से भर कर इनका चक्र चलाया ,
अलग - अलग थे एक हुई पर इनकी छाया ।

मैं नियमन के लिए बुद्धि - बल से प्रयत्न कर ,
इनको कर एकत्र, चलाता नियम बना कर ।

किन्तु स्वयं भी क्या वह सब कुछ मान चलूँ मैं,
तनिक न मैं स्वच्छंद, स्वर्ण - सा सदा गलूँ मैं ! १५०

जो मेरी है सृष्टि उसी से भीत रहूँ मैं,
क्या अधिकार नहीं कि कभी अविनीत रहूँ मैं ?

श्रद्धा का अधिकार समर्पण दे न सका मैं,
प्रतिपल बढ़ता हुआ भला कब वहाँ रुका मैं ।

इड़ा नियम - परतंत्र चाहती मुझे बनाना,
निर्वाधित अधिकार उसी ने एक न माना ।

विश्व एक बंधन - विहीन परिवर्तन तो है ;
इसकी गति में रवि - शशि - तारे थे सब जो हैं :—

रूप बदलते रहते वसुधा जलनिधि बनती, *gumeyan*
उदधि बना मरुभूमि जलधि में ज्वाला जलती । *Amr*

तरल अग्नि की दौड़ लगी है सब के भीतर,
गल कर बहते हिम - नग सरिता लीला रच कर ।

यह स्फुलिंग का नृत्य एक पल आया बीता !
टिकने को कब मिला किसी को यहाँ सुभीता ?

कोटि - कोटि नक्षत्र शून्य के महा विवर में,
लास रास कर रहे लटकते हुए अधर में ।

उठती हैं पवनों के स्तर में लहरें कितनी,
यह असंख्य चीत्कार और परवशता इतनी ।

यह नर्तन उन्मुक्त विश्व का स्पंदन द्रुततर, गतिमय होता चला जा रहा अपने लय पर।

कभी - कभी हम वही देखते पुनरावर्तन, Re-occu
उसे मानते नियम चल रहा जिससे जीवन।

रुदन हास बन किंतु पलक में छलक रहे हैं,
शत - शत प्राण विमुक्ति खोजते ललक रहे हैं।

जीवन में अभिशाप शाप में ताप भरा है,
इस विनाश में सृष्टि - कुंज हो रहा हरा है।

‘विश्व बँधा है एक नियम से’ यह पुकार सी,
फैल गई है इनके मन में दृढ़ प्रचार सी।

नियम इन्होंने परखा फिर सुख साधन जाना,
वशी नियामक रहे, न ऐसा मैंने माना।

मैं चिर बंधन हीन मृत्यु सीमा उल्लंघन—अतिश्रम
करता सतत चलूँगा यह मेरा है दृढ़ प्रण।

महानाश की सृष्टि बीच जो क्षण हो अपना,
चेतनता की तृष्टि वही है फिर सब सपना।”

प्रगतिशील मन रुका एक क्षण करवट लेकर,
देखा अविचल इड़ा खड़ी फिर सब कुछ देकर !

और कह रही “ किन्तु नियामक नियम न माने ,
ता फिर सब कुछ नष्ट हुआ सा निश्चय जाने । ”

“ ऐं तुम फिर भी यहाँ आज कैसे चल आयी ,
क्या कुछ और उपद्रव की है बात समायी—

मेन में, यह सब आज हुआ है जो कुछ इतना !
क्या न हुई है तुष्टि ? बचरहा है अब कितना ? ”

अधिमार्

“ मनु सब शासन स्वत्व तुम्हारा सतत निबाहें ,
तुष्टि, चेतना का क्षण अपना अन्य न चाहें !

आह प्रजापति यह न हुआ है कभी न होगा ,
निर्वाहित अधिकार आज तक किसने भोगा ? ”

यह मनुष्य आकार चेतना का है विकसित ,
एक विश्व अपने आवरणों में है निर्मित ।

चिन्ति केन्द्रों में जो संघर्ष चला करता है ,
द्रव्यता का जो भाव सदा मन में भरता है :—

वे विस्मृत पहचान रहे से एक - एक को ,
होते सतत समीप मिलाते हैं अनेक को ।

स्पर्धा में जो उत्तम उठें वे रह जावें ,
संस्तुति का कल्याण करें शुभ मार्ग बतावें ।

व्यक्ति - चेतना इसीलिए परतंत्र बनी - सी ,
रागपूर्ण, पर द्वेष - पंक में सतत सनी - सी ;

नियत मार्ग में पद - पद पर है ठोकर खाती ,
अपने लक्ष्य समीप श्रान्त हो चलती जाती ।

यह जीवन उपयोग, यही है बुद्धि साधना ,
अपना जिसमें श्रेय यही सुख की अ'राधना ।

लोक सुखी हो आश्रय ले यदि उस छाया में ,
प्राण - सदृश तो रमो राष्ट्र की इस काया में ।

देश कल्पना काल परिधि में होती लय है ,
काल खोजता महाचेतना में निज क्षय है ।

वह अनंत चेतन नचता है उन्मद गति से ,
तुम भी नाचो अपनी द्वयता में विस्मृति में ।

क्षितिज पटी को उठा बढ़ो ब्रह्मांड - विवर में ,
गुंजारित घन - नाद सुनो इस विश्व - कुहर में ।

ताल - ताल पर चलो नहीं लय छूटे जिसमें ,
तुम न विवादी स्वर छेड़ो अनजाने इसमें ।” सर्वदे।

“ अच्छा ! यह तो फिर न तुम्हें समझाना है अब ,
तुम कितनी प्रेरणामयी हो जान चुका सब ।

किन्तु आज ही अभी लौट कर फिर हो आई ,
कैसे यह साहस की मन में बात समाई !

आह प्रजापति होने का अधिकार यही क्या ?
अभिलाषा मेरी अपूर्ण ही सदा रहे क्या ?

मैं सबको वितरित करता ही सतत रहूँ क्या ?
कुछ पाने का यह प्रयास है पाप सहूँ क्या ?

तुमने भी प्रतिदान दिया कुछ कह सकती हो ?
मुझे ज्ञान देकर ही जीवित रह सकती हो !

जो मैं हूँ चाहता वही जब मिला नहीं है ;
तब लौटा लो व्यर्थ बात जो अभी कही है । ”

*

*

*

“ इड़े ! मुझे वह वस्तु चाहिए जो मैं चाहूँ ,
तुम पर हो अधिकार, प्रजापति न तो वृथा हूँ ।

तुम्हें देखकर सब बंधन ही टूट रहा अब ,
शासन या अधिकार चाहता हूँ न तनिक अब ।

देखो यह दुर्धर्ष प्रकृति का इतना कंपन !
मेरे हृदय समक्ष क्षुद्र है इसका स्पंदन !

इस कठोर ने प्रलय खेल है हँस कर खेला !
किन्तु आज कितना कोमल हो रहा अकेला ?

तुम कहती हो विश्व एक लय है, मैं उसमें ,
 लीन हो चलूँ ? किन्तु घरा है क्या सुख इसमें ।
 कंदन का निज अलग एक आकाश बना लूँ ,
 उस रोदन में अट्टहास हो तुमको पा लूँ ।
 फिर से जलनिधि उछल बहे मर्यादा बाहर !
 फिर भंक्का हो वज्र प्रगति से भीतर - बाहर !
 फिर डगमग हो नाव लहर ऊपर से भागे !
 रवि शशि तारा सावधान हों चौकें जागें !
 किन्तु पास ही रहो बालिके ! मेरी हो तुम ,
 मैं हूँ कुछ खिलवाड़ नहीं जो अब खेलो तुम ? ”

“ आह न समझोगे क्या मेरी अच्छी बातें ,
 तुम उत्तेजित होकर अपना प्राप्य न पाते ।
 प्रजा क्षुब्ध हो शरण माँगती उधर खड़ी है ,
 प्रकृति सतत आतंक विकंपित घड़ी घड़ी है ।
 सावधान ! मैं शुभाकांक्षिणी और कहूँ क्या ?
 कहना था कह चुकी और अब यहाँ रहूँ क्या ? ”

“ मायाविनि ! बस पा ली तुमने ऐसे छुट्टी ,
लड़के जैसे खेलों में कर लेते खुट्टी ।

मूर्त्तिमती अभिशाप बनी सी सम्मुख आयी ,
तुमने ही संघर्ष - भूमिका मुझे दिखायी !

२५५
१।५५५
रुधिर भरी वेदियों भयकरी उनमें ज्वाला !
विनयन का उपचार तुम्हीं से सीख निकाला ।

चार वर्ण बन गये बँटा श्रम उनका अपना ,
शस्त्र यंत्र बन चले, न देखा जिनका सपना ।

आज शक्ति का खेल खेलने में आतुर नर ,
प्रकृति संग संघर्ष निरंतर अब कैसा डर ?

बाधा नियमों की न पास में अब आने दो ,
इस हताश जीवन में क्षण सुख मिल जाने दो ।

राष्ट्र स्वामिनी ! यह लो सब कुछ वैभव अपना ,
केवल तुमको सब उपाय से कह लूँ अपना ।

यह सारस्वत देश या कि फिर ध्वंस हुआ सा—
समझो, तुम हो अग्नि और यह सभी धुआँ सा ? ”

“ मैंने जो मनु ! किया उसे मत यों कह भूलो !
तुमको जितना मिला उसी में यों मत फूलो !

प्रकृति संग संघर्ष सिखाया तुमको मैंने ,
 तुमको केंद्र बनाकर अनहित किया न मैंने ! ५२३
 मैंने इस बिखरी विभूति पर तुमको स्वामी ,
 सहज बनाया, तुम अब जिसके अंतर्दामी ।
 किंतु आज अपराध हमारा अलग खड़ा है ,
 हाँ में हाँ न मिलाऊँ तो अपराध बढ़ा है ।
 मनु ! देखो यह भ्रांत निशा अब बीत रही है ,
 प्राची में नव उषा तमस को जीत रही है ।
 अभी समय है मुझ पर कुछ विश्वास करो तो ,
 बनती है सब बात तनिक तुम धैर्य धरो तो । ”

और एक क्षण वह, प्रमाद का फिर से आया ,
 इधर इड़ा ने द्वार ओर निज पैर बढ़ाया ।
 किन्तु रोक ली गई भुजाओं से मनु की वह ,
 निस्सहाय हो दीन दृष्टि देखती रही वह ।

“ यह सारस्वत देश तुम्हारा तुम हो रानी !
 मुझको अपना अस्त्र बना करती मनमानी ।

यह छल चलने में अब पंगु हुआ - सा समझो ,
मुझको भी अब मुक्त जाल से अपने समझो ।

शासन की यह प्रगति सहज ही अभी रुकेगी ,
क्योंकि दासता मुझसे अब तो हो न सकेगी ।

मैं शासक, मैं चिर स्वतंत्र, तुम पर भी मेरा—
हो अधिकार असीम, सफल हो जीवन मेरा ।

छिन्न - भिन्न अन्यथा हुई जाती है पल में ,
सकल व्यवस्था अभी जाय डूबती अतल में ।

देख रहा हूँ वसुधा का अति भय से कंपन ,
और सुन रहा हूँ नभ का यह निर्मम कंदन !

किंतु आज तुम बंदी हो मेरी बाहों में ,
मेरी छाती में ”, फिर सब डूबा आहों में !

सिंह - द्वार अरराया जनता भीतर आयी ,
“मेरी रानी ” उसने जो चीत्कार मचायी ।

अपनी दुर्बलता में मनु तब हाँफ रहे थे ,
स्वलन विकंपित पद वे अब भी काँप रहे थे ।

सजग हुए मनु वज्र - खचित ले राजदंड तब ,
और पुकारा “ तो सुन लो जो कहता हूँ अब—

“ तुम्हें तृप्ति - कर सुख के साधन सकल बताया ,
मैंने ही श्रम भाग किया फिर वर्ग बनाया ।

अत्याचार प्रकृति - कृत हम सब जो सहते हैं ,
करते कुछ प्रतिकार, न अब हम चु। रहते हैं !

आज न पशु हैं हम, यह गूँगे काननचारी ,
यह उपकृति क्या भूल गये तुम आज हमारी ! ✓

वे बोले सक्रोध मानसिक भीषण दुख से ,
“ देखो पाप पुकार उठा अपने ही मुख से !

तुमने योग - क्षेम से अधिक संचय वाला ,
लोभ सिखा कर इस विचार - संकट में डाला ।

हम संवेदनशील हो चले यही मिला सुख ,
कष्ट समझने लगे बना कर निज कृत्रिम दुख !

श्री ६६

प्रकृति शक्ति तुमने यंत्रों से सब की ढीनी !
शोषण कर जीवनी बना दी जर्जर म्हीनी !

और इड़ा पर यह क्या अत्याचार किया है ?
इसीलिए तू हम सब के बल यहाँ जिया है ?

आज बंदिनी मेरी रानी इड़ा यहाँ है ?

ओ यायावर ! अब तेरा निस्तार कहाँ है ?”

“तो फिर हूँ मैं आज अकेला जीवन - रण में ,
प्रकृति और उसके पुतलों के दल भीषण में ।

आज साहसिक का पौरुष निज तन पर लेखें ,
राजदंड को वज्र बना सा सचमुच देखें ।”

यों कह मनु ने अपना भीषण अस्त्र संहाला ,
देव ‘आग’ ने उगली त्योंही अपनी ज्वाला ।

छूट चले नाराच धनुष से तीक्ष्ण नुकीले ,
टूट रहे नभ धूमकेतु अति नीले - पीले !

अंधड़ था बढ़ रहा, प्रजा दल सा झुंझलाता ,
रण - वर्षा में शस्त्रों - सा बिजली चमकाता ।

किंतु क्रूर मनु वारण करते उन वाणों को ,
बढ़े कुचलते हुए खड्ग से जन प्राणों को ।

तांडव में थी तीव्र प्रगति , परमाणु विकल थे ,
नियति विकर्षणमयी, त्रास से सब व्याकुल थे ।

मनु फिर रहे अलात - चक्र से उस घन तम में ,
वह रक्तिम उन्माद नाचता कर निर्मम में ।

उठा तमुल रणनाद, भयानक हुई अवस्था ,
बढ़ा विपक्ष - समूह मौन पददलित व्यवस्था ।

आहत पीछे हटे, स्तम्भ से टिक कर मनु ने ,
श्वास लिया, टंकार किया दुर्लक्ष्यी धनु ने -

बहते विकट अधीर विषम उंचास वात' थे ,
मरण - पर्व था ; नेता आकुल औ' किलात थे ।

ललकारा, “ बस अब इसको मत जाने देना ,
कितु सजग मनु पहुँच गये कह “ लेना लेना । ”

“ कायर ! तुम दोनों ने ही उत्पात मचाया ,
अरे, समझ कर जिनको अपना था अपनाया ।

तो फिर आओ देखो कैसे होती है बलि } *challenge*
रण यह, यज्ञ पुरोहित ! ओ किलात औ' आकुलि ! }

और घराशायी थे असुर पुरोहित उस क्षण ,
इड़ा अभी कहती जाती थी “ बस रोको रण :—

{ भीषण जन - संहार आप ही तो होता है , } R.C. ५
ओ पागल प्राणी तू क्यों जीवन खाता है । }
{ क्यों इतना आतंक ठहर जा ओ गर्वीले ! } R.C.
{ जीने दे सबको फिर तू भी सुख से जी ले । ” }

किन्तु सुन रहा कौन धधकती वेदी ज्वाला ,
सामूहिक बलि का निकला था पंथ निराला ।

रक्तोन्मद मनु का न हाथ अब भी रुकता था ; रक्त रक्त ३
प्रजा - पक्ष का भी न किन्तु साहस झुकता था । ४

वहीं घर्षिता खड़ी इड़ा सारस्वत रानी ,
वे प्रतिशोध अधीर रक्त बहता बन पानी ।

धूमकेतु - सा चला रुद्र नाराच^१ भयंकर ,
 लिये पूँछ में ज्वाला अपनी अति^१ प्रलयंकर ।

अंतरिक्ष में महाशक्ति हुंकार कर उठी ,
 सब शस्त्रों की धारे भीषण वेग भर उठीं ।

और गिरीं मनु पर सुमूर्ध^२ वे गिरे वही पर ,
 रक्त - नदी की बाढ़ फैलती थी उस भू पर ।

निर्वेद

वह सारस्वत नगर पड़ा था

क्षुब्ध मलिन कुछ मौन बना ,
जिसके ऊपर विगत कर्म का
विष विषाद आवरण तना ।

० उल्का - धारी प्रहरी से ग्रह
तारा नभ में टहल रहे ,
वसुधा पर यह होता क्या है
अणु अणु क्यों हैं मचल रहे ?

जीवन में जागरण सत्य है ^{दि १०}
या सुषुप्ति ही सीमा है ,
आती है रह रह पुकार-सी
' यह भव रजनी भीमा है । '

निशिचारी भीषण विचार के
पंख भर रहे सराटे ,
सरस्वती थी चली जा रही
खींच रही सी सनाटे ।

अभी घायलों की सिसकी में
 जाग रही थी मर्म - व्यथा ,
 पुर-लक्ष्मी खग-रव के मिस कुछ
 कह उठती थी करुण कथा ।

कुछ प्रकाश धूमिल सा उसके
 दीपों से था निकल रहा ,
 पवन चल रहा था रुक-रुक कर
 खिन्न भरा अवसाद रहा ।

मय मय मौन निरीक्षक-सा था
 सजग सतत चुपचाप खड़ा ,
 अंधकार का नील आवरण
 दृश्य जगत से रहा बड़ा ।

मंडप के सोपान पड़े थे
 सूने, कोई अन्य नहीं ,
 स्वयं इड़ा उस पर बैठी थी
 अग्नि-शिखा थी घघक रही ।

शून्य राज-चिह्नों से मन्दिर
 बस समाधि-सा रहा खड़ा ,
 क्योंकि वहीं घायल शरीर वह
 मनु का तो था रहा पड़ा ।

इड़ा ग्लानि से भरी हुई बस
 सोच रही बीती बातें ,
 घृणा और ममता में ऐसी
 बीत चुकीं कितनी रातें ।

+ [नारी का वह हृदय ! हृदय में
 सुधा - सिन्धु लहरें लेता ,
 बाढ़व ज्वलन उसी में जल कर
 कंचन - सा जल रँग देता ।

पीला मधु पिंगल उस तरल अग्नि में
 शीतलता संसृति रचती ,
 क्षमा और प्रतिशोध ! आह रे
 दोनों की माया नचती ।

“ उसने स्नेह किया था मुझसे
 हों अनन्य वह रहा नहीं ,
 सहज लब्ध थी वह अनन्यता
 पड़ी रह सके जहाँ कहीं ।

बाधाओं का अतिक्रमण कर
 जो अबाध हो दौड़ चले ,
 वही स्नेह अपराध हो उठा
 जो सब सीमा तोड़ चले !

हों अपराध ! किन्तु वह कितना
 एक अकेले भीम बना , ११/५५
 जीवन के कोने से उठ कर
 इतना आज असीम बना ।

और प्रचुर उपकार सभी वे
 सहृदयता की सब माया ,
 शून्य शून्य था ? केवल उसमें
 खेल रही थी छल छाया ?

“ कितना दुखी एक परदेशी
 बन, उस दिन जो आया था,
 जिसके नीचे धरा नहीं थी
 शून्य चतुर्दिक् छाया था ।

वह शासन का सूत्रधार था
 नियमन का आधार बना । शासन
 अपने निर्मित नव विधान से
 स्वयं दंड साकार बना ।

“ सागर की लहरों से उठकर
 शैल-शृङ्ग पर सहज चढ़ा,
 जिसको शक्ति
 ने जन्म दिया अप्रतिहत गति, संस्थानों से निवास के स्थान
 रहता था जो सदा बढ़ा ।

आज पड़ा है वह सुमूर्ध - सा परशासन
 वह अतीत सब सपना था,
 R C { उसके ही सब हुए पराये
 १४ { सबका ही जो अपना था ।

“ किन्तु, वही मेरा अपराधी
जिसका वह उपकारी था,
प्रकट उसी से दोष हुआ है
जो सब को गुणकारी था।

अरे सर्ग - अंकुर के दोनों ^{स्वप्नस्थ अंकुर}
पल्लव हैं ये भले बुरे,
एक दूसरे की सीमा हैं
क्यों न युगल को प्यार करें ?

“ अपना हो या औरों का सुख
बढ़ा कि बस दुख बना वही,
कौन विन्दु है रुक जाने का
यह जैसे कुछ ज्ञात नहीं।

प्राणी निज भविष्य-चिन्ता में
वर्तमान का सुख छोड़े,
दौड़ चला है बिखराता-सा
अपने ही पथ में रोड़े।

“इसे दंड देने में बैठी
या करती रखवाली मैं,
यह कैसी है विकट पहेली,
कितनी उलझन वाली मैं ?

एक कल्पना है मीठी यह
इससे कुछ सुन्दर होगा,
हाँ कि, वास्तविकता से अच्छी
सत्य इसी को वर देगा।”

चौक उठी अपने विचार से
कुछ दूरागत ध्वनि सुनती,
इस निस्तब्ध निशा में कोई
चली आ रही है कहती—

“अरे बता दो मुझे दया कर
कहाँ प्रवासी है मेरा ?
उसी बावले से मिलने को
डाल रही हूँ मैं फेरा।

रूठ गया था अपने पन से
 अपना सकी न उसको मैं,
 वह तो मेरा अपना ही था
 भला मनाती किसको मैं।

यही भूल अब शूल-सदृश हो
 साल रही उर में मेरे,
 कैसे पाऊँगी उसको मैं
 कोई आकर कह दे रे!"

इड़ा उठी, दिख पड़ा राज-पथ
 धुँधली - सी छाया चलती।
 वाणी में थी करुण वेदना
 वह पुकार जैसे जलती।

शिथिल शरीर वसन् विश्रुल अर्त्त, अर्त्त व्यर्त्त
 चाँद कबरी अधिक अधीर खुली,
 छिन्न पत्र मकरन्द लुटी सी
 ज्यों मुरझाई हुई कली।

नव कोमल अवलम्ब साथ में
 वय किशोर उँगली पकड़े,
 चला आ रहा मौन धैर्य-सा
 अपनी माता को जकड़े।

थके हुए थे दुखी बटोही
 वे दोनों ही माँ - बेटे,
 खोज रहे थे भूले मनु को
 जो घायल हो कर लेटे।

इड़ा आज कुछ द्रवित हो रही
 दुखियों को देखा उसने,
 पहुँची पास और फिर पूछा
 “तुमको बिसराया किसने ?

इस रजनी में कहाँ भटकती
 जाओगी तुम बोलो तो,
 बैठी आज अधिक चंचल हूँ
 व्यथा-गाँठ निज खोलो तो।

जीवन की लंबी यात्रा में
 खोये भी हैं मिल जाते,
 जीवन है तो कभी मिलन है
 कट जातीं दुख की रातें।”

श्रद्धा रुकी कुमार श्रान्त था
 मिलता है विश्राम यहीं,
 चली इड़ा के साथ जहाँ पर
 वहि-शिखा प्रज्वलित रही।

सहसा घघकी वेदी - ज्वाला
 मंडप आलोकित करती,
 कामायनी देख पायी कुछ
 पहुँची उस तक डग भरती।

और वही मनु ! घायल सचमुच
 तो क्या सच्चा स्वप्न रहा ?
 “आह प्राणप्रिय ! यह क्या ? तुम यों
 घुला हृदय बन नीर बहा।

इड़ा चकित, श्रद्धा आ बैठी
 वह थी मनु को सहलाती,
अनुलेपन-सा मधुर स्पर्श था ^{आविष्ट का जाल का रूप}
 व्यथा भला क्यों रह जाती ?

उस मूर्छित नीरवता में कुछ
 हलके - से स्पन्दन आये,
 आँखें खुलीं चार कोनों में
 चार बिन्दु आकर छाये।

उधर कुमार देखता ऊँचे
 मन्दिर, मंडप, वेदी को,
 यह सब क्या है नया मनोहर
 कैसे ये लगते जी को ?

माँ ने कहा “अरे आ तू भी
 देख पिता हैं पड़े हुए,”
 ‘पिता ! आ गया लो’ यह कहते
 उसके रोएँ खड़े हुए।

“माँ जल दे, कुछ प्यासे होंगे
क्या बैठी कर रही यहाँ?”

मुखर हो गया सूना मंडप
यह सजीवता रही कहाँ?

आत्मीयता घुली उस घर में
छोटा - सा परिवार बना,
छाया एक मधुर स्वर उस पर
श्रद्धा का संगीत बना।

बहुत शोर हुआ
तुमल कोलाहल कलह में
मैं हृदय की बात रे मन !

२५.

विकल होकर नित्य चंचल,
खोजती जब नींद के पल;
चेतना थक - सी रही तब,
मैं मलय की बात रे मन !

चिर-विषाद-विलीन मन की ,
 इस व्यथा के तिमिर वन की ,
 मैं उषा - सी ज्योति रेखा ,
 कुसुम विकसित प्रात रे मन !

जहाँ मरु ज्वाला धधकती ,
 चातकी कन को तरसती ;
 उन्हीं जीवन - घाटियों की ,
 मैं सरस बरसात रे मन !

पवन की प्राचीर में रुक , दीवार
 जला जीवन जी रहा झुक ;
 इस झुलसते विश्व दिन की ,
 मैं कुसुम ऋतु रात रे मन !

चिर निराशा नीरघर से , दीवार
 प्रतिच्छायित अश्रु - सर में ;
 मधुप मुखर मरंद मुकुलित ,
 मैं सजल जलजात रे मन !

संस्कृत

जीवनमयानि
अज्ञानाका रसउस स्वर - लहरी के अक्षर सबसंजीवन रस बने धुले ,

उधर प्रभात हुआ प्राची में

मनु के मुद्रित नयन खुले । बैद

श्रद्धा का अवलम्ब मिला फिर

कृतज्ञता से हृदय भरे ,

मनु उठ बैठे गदगद होकर

बोले कुछ अनुराग भरे ।

“ श्रद्धा तू आ गयी भला तो

पर क्या मैं था यहीं पड़ा !

वही भवन, वे स्तम्भ, वेदिका !

बिखरी चारों ओर घृणा ।

{ आँख बन्द कर लिया क्षोभ से दुःख

“ दूर दूर ले चल मुझको ,

इस भयावने अंधकार में

खो दूँ कहीं न फिर तुझको ।

हाथ पकड़ ले चल सकता हूँ
 हाँ कि यही अवलम्ब मिले, ८१५
 वह तू कौन ! परे हट, श्रद्धे !
 आ कि हृदय का कुसुम खिले । ”

श्रद्धा नीरव सिर सहलाती
 आँखों में विश्वास भरे,
 मानो कहती “तुम मेरे हो
 अब क्यों कोई दृथा डरे ? ” ८१६

जल पीकर कुछ स्वस्थ हुए से
 लगे बहुत धीरे कहने,
 “ले चल इस छाया के बाहर
 मुझको दे न यहाँ रहने ।

मुक्त नील नभ के नीचे या
 कहीं गुहा में रह लेंगे,
 अरे खेलता ही आया हूँ
 जो आवेगा सह लेंगे । ”

“ठहरो कुछ तो बल आने दो
 लिवा चलूँगी तुरंत तुम्हें,
 इतने क्षण तक” श्रद्धा बोली
 “रहने देगी क्या न हमें?”

इड़ा संकुचित उधर खड़ी थी
 यह अधिकार न छीन सकी,
 श्रद्धा अविचल मनु अब बोले
 उनकी वाणी नहीं रुकी।

अभिलाषा
 “जब जीवन में साध भरी थी
 उच्छ्वस्त अनुरोध भरा,
 अभिलाषाएँ भरी हृदय में
 अपने पन का बोध भरा।

मैं था, सुन्दर कुसुमों की वह
 सधन सुनहली छाया थी,
 मलयानिल की लहर उठ रही
 उल्लासों की माया थी!



उषा अरुण प्याला भर लाती
 सुरभित छाया के नीचे,
 मेरा यौवन पीता सुख से
 अलसाई आँखें मीचे ।

ले मकरन्द नया चू पड़ती
 शरद प्रात की शेफाली, लक्ष्मी
 बिखराती सुख ही, संध्या की
 सुन्दर अलकें घुँघराली ।

सहसा अंधकार की आँधी
 उठी क्षितिज से वेग भरी,
 हलचल से विचित्र विश्व, थी
 उद्वेलित मानस लहरी ।

व्यथित हृदय उस नीले नभ में
 छायापथ सा खुला तभी,
 अपनी मंगलमयी मधुर स्मिति
 कर दी तुमने देवि ! जभी ।

दिव्य तुम्हारी अमर अमिट छवि
 लगी खेलने रंग - रली ,
 नवल हेमलेखा सी मेरे
 हृदय निकष पर खिंची भली ।

अरुणाचला मन मंदिर की वह
 मुग्ध माधुरी नव प्रतिमा ;
 लगी सिखाने स्नेहमयी - सी
 सुन्दरता की मृदु महिमा ।

उस दिन तो हम जान सके थे
 सुन्दर किसको हैं कहते !
 तब पहचान सके, किसके हित
 प्राणी यह दुख - सुख सहते ।

जीवन कहता यौवन से ' कुछ
 देखा तू ने मतवाले '
 यौवन कहता ' साँस लिये चल
 कुछ अपना सम्बल पा ले ! '

हृदय बन रहा था सीपी-सा
 तुम स्वाती की बूँद बनीं ,
 मानस-शतदल भूम उठा जब
 तुम उसमें मकरन्द बनीं ।

तुमने इस सूखे पतझड़ में
 भर दी हरियाली कितनी ,
 मैंने समझा मादकता है
 तृप्ति बन गई वह इतनी !

विश्व, कि जिसमें दुख की आँधी
 पीड़ा की लहरी उठती ,
 जिसमें जीवन मरण बना था
 बुदबुद की माया नचती ।

वही शान्त उज्ज्वल मङ्गल सा
 दिखता था विश्वास भरा ,
 वर्षा के कदम्ब कानन सा
 सृष्टि-विभव हो उठा हरा ।

भगवति ! वह पावन मधु घारा !
 देख अमृत भी ललचाये ,
 बही, रम्य सौंदर्य शैल से
 जिसमें जीवन धुल जाये ।

संध्या अब ले जाती मुझसे
 ताराओं की अकथ कथा ,
 नींद सहज ही ले लेती थी
 सारे श्रम की विकल व्यथा ।

सकल कुतूहल और कल्पना
 उन चरणों से उलझ पड़ी ,
 कुसुम प्रसन्न हुए हँसते-से
 जीवन की वह धन्य घड़ी ।

स्मिति मधुराका थी, श्वासों से
 पारिजात कानन खिलता ;
 गति मरन्द-मन्थर मलयज-सी
 स्वर में वेणु कहाँ मिलता !

श्वास पवन पर चढ़ कर मेरे
 दूरागत वंशी रव सी ;
 गूँज उठी तुम, विश्व कुहर में
 दिव्य रागिनी अभिनव सी ।

(जीवन जलनिधि के तल मे जो
 मुक्ता थे वे निकल पड़े ,
 जग-मंगल संगीत तुम्हारा
 गाते मेरे रोम खड़े ।

आशा की आलोक-किरण से
 कुछ मानस से ले मेरे ,
 लघु जलधर का सृजन हुआ था
 जिसको शशि लेखा घेरे—

उस पर बिजली की माला-सी
 भूम पड़ी तुम प्रभा भरी ,
 और जलद वह रिमझिम बरसा
 मन वनस्थली हुई हरी ।

Handwritten signature/initials.

(तुमने हँस हँस मुझे सिखाया
 विश्व खेल है खेल चलो,
 तुमने मिलकर मुझे बताया
 सबसे करते मेल चलो।)

यह भी अपने बिजली के से
 विभ्रम से संकेत किया,
 अपना मन है, जिसको चाहा
 तब इसको दे दान दिया।

निरंतर तुम अजस्र वर्षा सुहाग की
 और स्नेह की मधु रजनी,
 चिर अतृप्ति जीवन यदि था तो
 तुम उसमें संतोष बनी।

कितना है उपकार तुम्हारा
 आश्रित मेरा प्रणय हुआ;
 कितना आभारी हूँ, इतना
 संवेदनमय हृदय हुआ।

किन्तु अधम मैं समझ न पाया
 उस मंगल की माया को ,
 और आज भी पकड़ रहा हूँ
 हर्ष-शोक की छाया को ।

(मेरा सब कुछ क्रोध-मोह के
 उपादान से गठित हुआ ,
 ऐसा ही अनुभव होता है
 किरनों ने अब तक न छुआ ।

शापित-सा मैं जीवन का यह
 ले कंकाल भटकता हूँ ,
 उसी खोखलेपन में जैसे
 कुछ खोजता अटकता हूँ ।

अंध-तमस है किन्तु प्रकृति का
 आकर्षण है खींच रहा ,
 सब पर, हाँ अपने पर भी मैं
 झुंझलाता हूँ खींच रहा ।

नहीं पा सका हूँ मैं जैसे
 जो तुम देना चाह रही,
 क्षुद्र पात्र ! तुम उसमें कितनी
 मधु धारा हो ढाल रही ।

[सब बाहर होता जाता है
 स्वगत उसे मैं कर न सका,
 बुद्धि तर्क के छिद्र हुए थे
 हृदय हमारा भर न सका ।]

यह कुमार मेरे जीवन का
 उच्च अंश, कल्याण कला !
 कितना बड़ा प्रलोभन मेरा
 हृदय स्नेह बन जहाँ ढला ।

सुखी रहे, सब सुखी रहें बस
 छोड़ो मुझ अपराधी को ,”
 श्रद्धा देख रही चुप मनु के
 भीतर उठती आँधी को ।

दिन बीता रजनी भी आई
 तंद्रा निद्रा संग लिये ,
 इड़ा कुमार समीप पड़ी थी
 मन की दबी उमंग लिये ।

श्रद्धा भी कुछ खिन्न थकी-सी
 हाथों को उपधान किये ,
 पड़ी सोचती मन ही मन कुछ ;
 मनु चुप सब अभिशाप पिये—

सोच रहे थे, “जीवन सुख है ?
 ना, यह विकट पहेली है ,
 भाग अरे मनु ! इन्द्रजाल से
 कितनी व्यथा न भेली है ?

यह प्रभात की स्वर्ण किरन-सी
 झिलमिल चंचल-सी छाया ,
 श्रद्धा को दिखलाई कैसे
 यह मुख या कलुषित काया ।

और शत्रु सब, ये कृतघ्न फिर
 इनका क्या विश्वास करूँ,
 प्रतिहिंसा प्रतिशोध दबा कर
 मन ही मन चुपचाप मरूँ।

श्रद्धा के रहते यह संभव
 नहीं कि कुछ कर पाऊँगा,
 तो फिर शांति मिलेगी मुझको
 जहाँ, खोजेंता जाऊँगा।”

जगे सभी जब नव प्रभात में
 देखें तो मनु वहाँ नहीं,
 ‘पिता कहों’ कह खोज रहा-सा
 वह कुमार अब शान्त नहीं।

इड़ा आज अपने को सबसे
 अपराधी है समझ रही,
 कामायनी मौन बैठी-सी
 अपने में ही उलझ रही।

दर्शन

वह चन्द्रहीन थी एक रात ,
जिसमें सोया था स्वच्छ प्रात ;

उजले उजले तारक झलमल ,
प्रतिविम्बित सरिता वक्षस्थल ,
धारा बह जाती बिम्ब अटल ,
खुलता था धीरे पवन पटल ;

चुपचाप खड़ी थी वृद्ध-पाँत , *अस्ति*
सुनती जैसे कुछ निजी बात ।

धूमिल छायाएँ रहीं घूम ।
लहरी पैरों को रही चूम ;

“ माँ ! तू चल आई दूर इधर ,
संध्या कब की चल गई उधर ;
इस निर्जन में अब क्या सुन्दर—
तू देख रही, हाँ बस चल घर

उसमें से उठता गंध घूम ”
श्रद्धा ने वह मुख लिया चूम ।

“ माँ ! क्यों तू है इतनी उदास ,
क्या मैं हूँ तेरे नहीं पास ;

तू कई दिनों से यों चुप रह ,
क्या सोच रही है ? कुछ तो कह ;
यह कैसा तेरा दुःख दुसह ,
जो बाहर भीतर देता दह ;

लेती ढीली-सी भरी साँस ,
जैसे होती जाती हताश । ”

वह बोली “ नील गगन अपार ,
जिसमें अवनत घन सजल भार ;

देशी Philosophical
Shri Ram Das

आते-जाते, सुख, दुख, दिशि, पल ,
शिशु-सा आता कर खेल अनिल ; पवन
फिर झलमल सुन्दर तारक-दल ,
नभ रजनी के जुगुनू अविरल ;

अनिल

यह विश्व अरे कितना उदार ,
मेरा यह रै उन्मुक्त द्वार ।

यह लोचन गोचर सकल लोक ,
संसृति के कल्पित हर्ष शोक ;

भावपूर्ण भावोदधि से किरनों के मग ,
स्वाती कन से बन भरते जग ;
उत्थान पतनमय सतत सजग ,
झरने झरते आलिङ्गित नग ; पर्वत

उलझन की मीठी रोक-टोक ,
यह सब उसकी है नोक-झोंक ।

उत्थान पतनमय शक्ति की

जग, जगता आँखें किये लाल ,
सोता ओढ़े तम नींद जाल ;

सुरधनु-सा अपना रंग बदल ,
मृति, संसृति, नति, उन्नति में ढल ;
अपनी सुषमा में यह झलमल ,
इस पर खिलता झरता उडु-दल ;

आकाश अवकाश सरोवर का मराल , Show
कितना सुन्दर कितना विशाल । -

इसके स्तर स्तर में मौन शान्ति ,
शीतल अगाध है, ताप-भ्रान्ति ;

परिवर्तनमय यह चिर मङ्गल ,
मुस्क्याते इसमें भाव सकल ;
हँसता है इसमें कोलाहल ,
उल्लास भरा - सा अन्तस्फल ;

मेरा निवास अति मधुर कान्ति ,
धोसंका यह एक नीड़ है सुखद शान्ति । ”

“अम्बे फिर क्यों इतना विराग ,
मुक्त पर न हुई क्यों सानुराग ? ”

पीछे मुड़ श्रद्धा ने देखा ,
वह इड़ा मलिन छबि की रेखा ;
ज्यों राहु ग्रस्त सी शशि लेखा ,
जिस पर विषाद की विष रेखा ;

कुछ ग्रहण कर रहा दीन त्याग ,
सोया जिसका है भाग्य, जाग ।

बोली “तुमसे कैसी विरक्ति ,
तुम जीवन की अन्धानुरक्ति ;

मुझसे बिछुड़े को अवलम्बन ,
देकर, तुमने रक्खा जीवन ;
तुम आशामयि ! चिर आकर्षण ,
तुम मादकता की अवनत घन ;

मनु के मस्तक की चिर अतृप्ति ,
तुम उत्तेजित चंचला शक्ति !

मैं क्या दे सकती तुम्हें माल ,
यह हृदय ! अरे दो मधुर बोल ;

मैं हँसती हूँ रो लेती हूँ ,
मैं पाती हूँ खो देती हूँ ;
इससे ले उसको देती हूँ ,
मैं दुख को सुख कर लेती हूँ ,

अनुराग भरी हूँ मधुर घोल ,
चिर विस्मृति सी हूँ रही डोल ।

यह प्रभापूर्ण तव मुख निहार ,
मनु हत-चेतन थे एक बार ;

नारी माया ममता का बल ,
वह शक्तिमयी छाया शीतल ;
फिर कौन क्षमा कर दे निश्छल ,
जिससे यह धन्य बने भूतल ;

‘तुम क्षमा करोगी’ यह विचार ,
मैं छोड़ूँ कैसे साधिकार । ”

“अब मैं रह सकती नहीं मौन ,
अपराधी किन्तु यहाँ न कौन ?

सुख-दुख जीवन में सब सहते ,
पर केवल सुख अपना कहते ;
अधिकार न सीमा में रहते ,
पावस निर्झर से वे बहते ;

रोके फिर उनको भला कौन ?
सब को वे कहते—‘शत्रु हो न !’

अग्रसर हो रही यहाँ फूट ,
सीमाएँ कृत्रिम रहीं टूट ;

श्रम भाग वर्ग बन गया जिन्हें ,
अपने बल का है गर्व उन्हें ;
नियमों की करनी सृष्टि जिन्हें ,
विप्लव की करनी वृष्टि उन्हें ;

सब पिये मत्त लालसा घूँट ,
मेरा साहस अब गया छूट ।

मैं जनपद-कल्याणी प्रसिद्ध ,

अब अवनति कारण हूँ निषिद्ध ;

मेरे सुविभाजन हुए विषम ,

टूटते, नित्य बन रहे नियम ;

नाना केन्द्रों में जलधर-सम ,

घिर हट; बरसे ये उपलोपम ;

यह ज्वाला इतनी है समिद्ध ,

आहुति बस चाह रही समृद्ध ।

पतन

उपेक्षित वर्जित
Refuse

117

तो क्या मैं भ्रम में थी नितान्त ,
संहार-बध्य असहाय दान्त ;

प्राणी विनाश मुख में अविरल ,
चुपचाप चलें होकर निर्वल !
संघर्ष कर्म का मिथ्या बल ,
ये शक्ति-चिह्न, ये यज्ञ विफल ;

भय की उपासना ! प्रणति भ्रान्त !
अनुशासन की छाया अशान्त ! :—

तिस पर मैंने छीना सुहाग ,
हे देवि ! तुम्हारा दिव्य राग ;

आच्छादित हूँ मैं आज अकिंचन पाती हूँ ,
अपने को नहीं सुहाती हूँ ;
मैं जो कुछ भी स्वर गाती हूँ ,
वह स्वयं नहीं सुन पाती हूँ ;

दो क्षमा, न दो अपना विराग ,
सोई चेतनता उठे जाग । ”

“ है रुद्र रोष अब तक अशान्त ,
श्रद्धा बोली, ‘बन विषम ध्वान्त !

सिर चढ़ी रही ! पाया न हृदय ,
तू विकल कर रही है अभिनय ;
अपना - पन चेतन का सुखमय ;
खो गया, नहीं आलोक उदय ;

मव अपने पथ पर चले श्रान्त ,
प्रत्येक विभाजन बना भ्रान्त ।

अ० १०५ जीवन धारा सुन्दर प्रवाह ,
सत, सतत, प्रकाश सुखद अथाह ;

ओ तर्कमयी ! तू गिने लहर ,
प्रतिबिम्बित तारा पकड़, ठहर ;
तू रुक रुक देखे आठ पहर ,
वह जड़ता की स्थिति भूल न कर ;

सुख दुख का मधुमय धूप-झोंह ,
तू ने छोड़ी यह सरल राह ।

चेतनता का भौतिक विभाग—

कर, जग को बाँट दिया विराग ;

चिति का स्वरूप यह नित्य जगत ,

वह रूप बदलता है शत शत ;

कण विरह-मिलनमय नृत्य-निरत ,

उल्लास पूर्ण आनन्द सतत ;

तल्लीन पूर्ण है एक राग ,

भङ्कृत है केवल ' जाग जाग ! '

झलियान

मैं लोक अग्नि में तप नितान्त ,

आहुति प्रसन्न देती प्रशान्त ;

तू क्षमा न कर कुछ चाह रही ,

जलती छाती की दाह रही ;

तो ले ले जा निधि पास रही ,

मुझको बस अपनी राह रही ;

मधुर

रह सौम्य ! यहीं ; हो सुखद प्रान्त ,

विनिमय कर दे कर कर्म कान्त ।

तुम दोनों देखो राष्ट्र-नीति ,
शासक बन फैलाओ न भीति ;

मैं अपने मनु को खाज चली ,
सरिता मरु नग या कुंज गली ;
वह भोला इतना नहीं छली !
मिल जायेगा, हूँ प्रेम पली ;

तब देखूँ कैसी चली रीति ,
मानव ! तेरी हो सुयश गीति । ”

बोला बालक “ ममता न तोड़ ,
जननी ! मुझसे मुँह यों न मोड़ ; ”

तेरी आज्ञा का कर पालन ,
वह स्नेह सदा करता लालन— पालन
मैं मरूँ जिऊँ पर छुटे न प्रन ,
वरदान बने मेरा जीवन !

जो मुझको तू यों चली छोड़ ,
तो मुझे मिले फिर यही कोड़ ! ” गोद

“ हे सौम्य ! इड़ा का शुचि दुलार ,
हर लेगा तेरा व्यथा-भार ;

यह तर्कमयी तू श्रद्धामय ,
तू मननशील कर कर्म अभय ;
इसका तू सब संताप निचय ,
हर ले, हो मानव भाग्य उदय ;

सब की समरसता कर प्रचार ,
मेरे सुत ! सुन माँ की पुकार । ”

“ अति मधुर वचन विश्वास मूल ,
मुझको न कभी ये जायँ भूल ;

हे देवि ! तुम्हारा स्नेह प्रबल ,
बन दिव्य श्रेय - उद्गम अविरल ;
आकर्षण घन सा वितरे जल ,
निर्वासित हों संताप सकल ;”

दृष्ट हो जाये

कह इड़ा प्रणत ले चरण-धूल ,
पकड़ा कुमार कर मृदुल फूल ।

वे तीनों ही क्षण एक मौन ,
विस्मृत से थे, हम कहाँ, कौन !

विच्छेद बाह्य, था आलिंगन—
वह हृदयों का, अति मधुर मिलन ;
मिलते आहत होकर जल-कन ,
लहरो का यह परिणत जीवन ;

दो लौट चले पुर ओर मौन ,
जब दूर हुए तब रहे दो न ;

आर्त्ता

निस्तब्ध गगन था, दिशा शान्त ,
वह था असीम का चित्र कान्त ;

कुछ शून्य विन्दु उर के ऊपर ,
व्यथिता रजनी के श्रम-सीकर :
झलके कब से पर पड़े न झर ,
गंभीर मलिन छाया भू पर ;

सरिता तट तरु का क्षितिज प्रान्त ,
केवल बिखेरता दीन ध्वान्त ।

शत-शत तारा-मंडित अनन्त ,
कुसुमों का स्तवक खिला वसन्त ;

हँसता ऊपर का विश्व मधुर ,
हलके प्रकाश से पूरित उर ;
बहती माया सरिता ऊपर ,
उठती किरणों की लोल लहर ;

निचले स्तर पर छाया दुरन्त , अनर्गल
आती चुपके, जाती तुरन्त ।

सरिता का वह एकान्त कूल ,
था पवन हिडोले रहा भूल ;

धीरे - धीरे लहरों का दल ,
तट से टकरा होता ओझल ;
छप-छप का होता शब्द विरल ,
थर-थर कँप रहती दीप्ति तरल ;

सृसंति अपने में रही भूल ,
वह गन्ध विधुर अम्लान फूल ।

तब सरस्वती-सा फेंक साँस ,
श्रद्धा ने देखा आस - पास ;

थे चमक रहे दो खुले नयन ,
ज्यों शिला-लग्न अनगढ़े रतन ;
यह क्या तम में करता सनसन ?

धारा का ही क्या यह निस्वन ! २१०६

ना, गुहा लतावृत एक पास ,
कोई जीवित ले रहा साँस !

वह निर्जन तट था एक चित्र ,
कितना सुन्दर कितना पवित्र ?

कुछ उन्नत थे वे शैल-शिखर ,
फिर भी ऊँचा श्रद्धा का सिर :
वह लोक अग्नि में तप गल कर ,
थी ढली स्वर्ण-प्रतिमा बन कर :

मनु ने देखा कितना विचित्र !
वह मातृ मूर्ति थी विश्व मित्र ।

बोले “रमणी तुम नहीं आह !

जिसके मन में हो भरी चाह ;

तुमने अपना सब कुछ खोकर ,

वंचिते ! जिसे पाया रोकर :

मैं भगा प्राण जिनसे लेकर .

उसको भी, उन सब को देकर ;

निर्दय मन क्या न उठा कराह ?

अद्भुत है तव मन का प्रवाह !

जि. १११२

ये श्वापद से हिसक अधीर ,

कोमल शावक वह बाल वीर ; हिरण

सुनता था वह वाणी शीतल ,

कितना दुलार कितना निर्मल ?

कैसा कठोर है तव हृत्तल ?

वह इट्टा कर गई फिर भी छल ;

तुम बनी रही हो अभी धीर ,

छुट गया हाथ से आह तीर ।”

“ प्रिय ! अब तक हो इतने सशंक ,

देकर कुछ कोई नहीं रंग ; - - - *देखो*

यह विनिमय है या परिवर्तन ,

बन रहा तुम्हारा ऋण अब धन ,

अपराध तुम्हारा वह बंधन—

लो बना मुक्ति, अब छोड़ स्वजन— *संघर्ष*

*आसंवादीयों
से विमुक्ति*

निर्वासित तुम, क्यों लगे डंक ?

दो लो प्रसन्न, यह स्पष्ट अंक !”

“ तुम देवि ! आह कितनी उदार .

यह मातृ-मूर्ति है निर्विकार ;

हे सर्वमंगले ! तुम महती ,

सबका दुख अपने पर सहती ;

कल्याणमयी वाणी कहती .

तुम क्षमा-निलय में हो रहती :

मैं भूला हूँ तुमको निहार ,

नारी-सा ही ! वह लघु विचार ।

मैं इस निर्जन तट में अधीर ,

सह भूख व्यथा तीखा समीर ;

हाँ भाव-चक्र में पिस-पिस कर ,

चलता ही आया हूँ बढ़ कर ;

इनके विकार-सा ही बनकर ,

मैं शून्य बना सत्ता खोकर ;

लघुता मत देखो वक्ष चीर ,

जिसमें अनुशय बन घुसा तीर । " पुराणा वैर

“ प्रियतम ! यह नत निस्तब्ध रात , २॥ ६१ ”

है स्मरण कराती विगत बात ;

वह प्रलय शान्ति वह कोलाहल ,

जब अर्पित कर जीवन संबल ;

मैं हुई तुम्हारी थी निश्छल ,

क्या भूँ मैं, इतनी दुर्बल ?

तब चला जहाँ पर शान्ति-प्रात ,

मैं नित्य तुम्हारी, सत्य बात ।

इस देव द्वन्द्व का वह प्रतीक—
मानव ! कर ले सब भूल ठीक ;

यह विष जो फैला महा विषम ,
निज कर्मोन्नति से करते सम ;
सब मुक्त बनें, काटेंगे भ्रम ,
उनका रहस्य हो शुभ संयम ;

गिर जायेगा जो है अलीक, अनियमित
चल कर मिटती है पड़ी लीक । ” नियम

वह शून्य असत या अंधकार ,
अवकाश पटल का वार-पार ; ओझ-छोड़

बाहर भीतर उन्मुक्त सघन , स्वतन्त्र
था अचल महा नीला अंजन ;
भूमिका बनी वह स्निग्ध मलिन ,
थे निर्निमेष मनु के लोचन ;

इतना अनन्त था शून्य सार ,
दीखता न जिसके परे पार ।

१५६
१५७
१५८
१५९
१६०
१६१
१६२
१६३
१६४
१६५
१६६
१६७
१६८
१६९
१७०
१७१
१७२
१७३
१७४
१७५
१७६
१७७
१७८
१७९
१८०
१८१
१८२
१८३
१८४
१८५
१८६
१८७
१८८
१८९
१९०
१९१
१९२
१९३
१९४
१९५
१९६
१९७
१९८
१९९
२००

सत्ता का स्पन्दन चला डोल ,
आवरण पटल की ग्रन्थि खोल ;

तम जलनिधि का बन मधु मंथन ,
ज्योत्स्ना सरिता का आलिगन ;
वह रजत गौर, उज्ज्वल जीवन ,
आलोक पुरुष ! मंगल चेतन !

केवल प्रकाश का था कलोल ,
मधु किरनों की थी लहर लोल ।

बन गया तमस था अलक जाल ,
सर्वांग ज्योतिमय था विशाल ;

अन्तर्निनाद ध्वनि से पूरित ,
थी शून्य-भेदिनी सत्ता चित् ;
नटराज स्वयं थे नृत्य निरत ,
था अंतरिक्ष प्रहसित मुखरित ,

स्वर लय होकर दे रहे ताल ,
थे लुप्त हो रहे दिशाकाल ।

लीला का स्पन्दित आह्लाद ,
वह प्रभा पुंज चितिमय प्रसाद ;

आनन्द पूर्ण ताण्डव सुन्दर ,
भरते थे उज्ज्वल श्रम सीकर ;
बनते तारा, हिमकर दिनकर ,
उड़ रहे धूलि-कण से भूधर ;

संहार सृजन से युगल पाद—
गतिशील, अनाहत हुआ नाद ।

बिखरे असंख्य ब्रह्माण्ड गोल ,
युग त्याग ग्रहण कर रहे तोल ;

विद्युत कटाक्ष चल गया जिधर ,
कंपित संसृति बन रही उधर ;
चेतन परमाणु अनन्त बिखर ,
बनते विलीन होते क्षण भर ;

यह विश्व भूलता महा दोल ,
परिवर्तन का पट रहा खोल ।

उस शक्ति शरीरी का प्रकाश ,
सब शाप-पाप का कर विनाश—

नर्तन में निरत, प्रकृति गल कर ,
उस कान्ति-सिन्धु में घुल मिल कर ;
अपना स्वरूप धरती सुन्दर ,
कमनीय बना था भीषणतर ;

हिमाचल
हीरक-गिरि पर विद्युत-विलास
उल्लसित महा हिम धवल हास ।

देखा मनु ने नर्तित नटेश ,
हत-चेत पुकार उठे विशेष ;

“ यह क्या ! श्रद्धे ! बस तू ले चल ,
उन चरणों तक, दे निज संबल ;
सब पाप-पुण्य जिसमें जल जल ,
पावन बन जाते हैं निर्मल ; R-”

मिटते असत्य से ज्ञान लेश ,
समरस अखंड आनन्द वेश ।”

रहस्य

ऊर्ध्व देश उस नील तमस में
स्तब्ध हो रही अचल हिमानी ;
पथ थक कर है लीन, चतुर्दिक
देख रहा वह गिरि अभिमानी ।

दोनों पथिक चले हैं कब से
ऊँचे ऊँचे चढ़ते चढ़ते ;
श्रद्धा आगे मनु पीछे थे
साहस उत्साही से बढ़ते ।

पवन - वेग प्रतिकूल उधर था
कहता, ' फिर जा अरे बटोही !
किधर चला तू मुझे भेद कर ?
प्राणों के प्रति क्यों निर्मोही ? '

छूने को अम्बर मचली सी
बढ़ी जा रही सतत उँचाई ;
विज्ञात उसके अंग, प्रगट थे
भीषण खड्ग भयकरी खाँई ।

रविकर हिम खंडों पर पड़ कर
हिमकर कितने नये बनाता ;
द्रुततर चक्र काट पवन भी
फिर से वहीं लौट आ जाता ।

११ अ २५१

नीचे जलधर दौड़ रहे थे
 सुन्दर सुर - धनु माला पहने ;
कुञ्जर - कलभ सदृश इठलाते
 चमकाते चपला के गहने ।

प्रवहमान थे निम्न देश में
 शीतल शत शत निर्भर ऐसे ;
 महा श्वेत गजराज गरुड से
 बिखरीं मधु धाराएँ जैसे ।

हरियाली जिनकी उभरी, वे
 समतल चित्र पट्टी से लगते ;
 प्रतिकृतियों के वाह्य रेख से
 स्थिर, नद जो प्रति पल थे भगते ।

लघुतम वे सब जो वसुधा पर
 ऊपर महा शून्य का घेरा ;
 ऊँचे चढ़ने की रजनी का
 यहाँ हुआ जा रहा सबेरा ।

“कहाँ ले चली हों अब मुझको
श्रद्धे ! मैं थक चला अधिक हूँ ;
साहस छूट गया है मेरा
निस्संबल भगनाश पथिक हूँ ।

लौट चलो, इस वात-चक्र से
मैं दुर्बल अब लड़ न सकूँगा ;
श्वास रुद्ध करने वाले इस
शीत पवन से अढ़ न सकूँगा ।

मेरे, हाँ वे सब मेरे थे
जिनसे रूठ चला आया हूँ ;
वे नीचे छूटे सुदूर, पर
भूल नहीं उनको पाया हूँ ।” ५४.५.

वह विश्वास भरी स्मिति निश्छल
श्रद्धा मुख पर झलक उठी थी ;
सेवा कर - पल्लव में उसके
कुछ करने की ललक उठी थी ।

दे अवलंब, विकल साथी को
कामायनी मधुर स्वर बोली ;
“ हम बढ़ दूर निकल आये अब
करने का अवसर न ठिठोली ।

दिशा विकम्पित, पल असीम है
यह अनंत - सा कुछ ऊपर है ;
अनुभव करते हो, बोलो क्या
पदतल में सचमुच भूधर है ?

निराधार है, किन्तु ठहरना
हम दोनों को आज यहीं है ;
नियत खेल देखूँ न, सुनो अब
इसका अन्य उपाय नहीं है ।

८७।२।—

~~झुँझ~~ लगती जो, वह तुमको
ऊपर उठने को है कहती ;
इस प्रतिकूल पवन धक्के को
झोंक दूसरी ही आ सहती ।

श्रांत पक्ष, कर नेत्र बंद बस
विहग युगल से आज हम रहें ;
शून्य, पवन बन पंख हमारे
हमको दें आधार, जम रहें ।

घबराओ मत ! यह समतल है
देखो तो, हम कहाँ आ गये । ”
मनु ने देखा आँख खोल कर
जैसे कुछ कुछ त्राण पा गये ।

५६१

उष्मा का अभिनव अनुभव था
ग्रह, तारा, नक्षत्र अस्त थे ;
दिवा रात्रि के संधि काल में
ये सब कोई नहीं व्यस्त थे ।

२५१-२५२

ऋतुओं के स्तर हुए तिरोहित
भू - मंडल रेखा विलीन सी ;
निराधार उस महादेश में
उदित सचेतनता नवीन सी ।

५६१

त्रिदिक् विश्व, आलोक विदु भी
तीन दिखाई पड़े अलग वे ;
त्रिभुवन के प्रतिनिधि थे मानो
वे अनमिल थे किंतु सजग थे ।

मनु ने पूछा, “ कौन नये ग्रह
ये हैं, श्रद्धे ! मुझे बताओ ;
मैं किस लोक बीच पहुँचा, इस
इंद्रजाल से मुझे बचाओ । ”

॥ इस त्रिकोण के मध्य बिंदु तूम
शक्ति विपुल क्षमता वाले थे ;
एक एक को स्थिर हो देखो
इच्छा, ज्ञान, क्रिया वाले थे ।

वह देखो रागारूण है जो राग ~~राग~~ राग
जषा के कंदुक - सा सुन्दर ; ~~राग~~ राग
छायामय कमनीय कलेवर
भावमयी प्रतिमा का मंदिर ।

शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गंध की
पारदर्शिनी सुघड़ पुतलियाँ ;
चारो ओर नृत्य करती ज्यों
रूपवती रंगीन तितलियाँ ।

१२३५
३५ इस कुसुमाकर के कानन के
अरूण पराग पटल छाया में ;
इठलातीं सोतीं जगतीं ये
अपनी भाव भरी माया में । ~~सुख~~

वह संगीतात्मक ध्वनि इनकी
कोमल अँगड़ाई है लेती ;
मादकता की लहर उठा कर
अपना अंबर तर कर देती ।

आलिंगन सी मधुर प्रेरणा
छू लेती, फिर सिहरन बनती ;
नव अलम्बुषा की वीड़ा सी
खुल जाती है, फिर जा मुँदती ।

यह जीवन की मध्य भूमि है
रस धारा से सिंचित होती ;
मधुर लालसा की लहरों से
यह प्रवाहिका स्पंदित होती ।

जिसके तट पर विद्युत कण से
मनोहारिणी आकृति वाले ;
छायामय सुषमा में विह्वल
विचर रहे सुन्दर मतवाले ।

सुमन संकुलित भूमि रंध्र से
मधुर गंध उठती रस भीनी ;
वाष्प अदृश्य फुहारै इसमें
छूट रहे, रस बूँदें झीनी ।

घूम रही है यहाँ चतुर्दिक्
चल चित्रों सी संसृति छाया ;
जिस आलोक विंदु को घेरे
वह बैठी मुसक्याती माया ।

भाव चक्र यह चला रही है
इच्छा की रथ-नाभि घूमती ;
नव रस भरिं अराएँ अविरल
चक्रवाल को चकित चूमतीं ।

यहाँ मनोमय विश्व कर रहा
रागारुण चेतन उपासना ;
माया राज्य ! यही परिपाटी
पाश बिछा कर जीव फाँसना ।

ये अशरीरी रूप, सुमन से
केवल वर्ण गंध में फूले ;
इन अप्सरियों की तानों के
मचल रहे हैं सुन्दर भूले ।

भाव भूमिका इसी लोक की
जननी है सब पुण्य पाप की ;
ढलते सब, स्वभाव प्रतिकृति बन
गल ज्वाला से मधुर ताप की ।

नियम मयी उलझन लतिका का
भाव विटपि से आकर मिलना ; भाव रूपी वृक्षा
जीवन वन की बनी समस्या
आशा नभकुसुमों का खिलना ।

चिर-वसंत का यह उद्गम है
पतझर होता एक ओर है ;
अमृत हलाहल यहाँ मिले हैं विष
मुख दुख बँधते, एक डोर हैं । ”

“ सुन्दर यह तुमने दिखलाया
किन्तु कौन वह श्याम देश है ?
कामायनी ! बताओ उसमें
क्या रहस्य रहता विशेष है ?

“ मनु यह श्यामल कर्म लोक है
धुँधला कुछ कुछ अंधकार सा ;
सधन हो रहा अविज्ञात यह
देश मलिन है धूम धार सा ।

कर्म-चक्र सा धूम रहा है
यह गोलक, बन नियति प्रेरणा ;
सब के पीछे लगी हुई है
कोई व्याकुल नयी एषणा । ५२५

श्रम मय कोलाहल, पीड़न मय
विकल, प्रवर्त्तन महायंत्र का ;
क्षणा भर भी विश्राम नहीं है
प्राण दास है क्रिया-तंत्र का । ५२६ शास्त्र

भाव राज्य के सकल मानसिक
सुख यों दुख में बदल रहे हैं ;
हिंसा गर्वोन्नत हारों में
ये अकड़े अणु टहल रहे हैं ।

ये भौतिक सदेह कुछ करके
जीवित रहना यहाँ चाहते ;
भाव राष्ट्र के नियम यहाँ पर
दण्ड बने हैं, सब कराहते ।

५२५
अकड़े अणु

करते हैं, संतोष नहीं है
जैसे कशाघात प्रेरित से—
प्रतिक्षण करते ही जाते हैं
भीति विवश ये सब कंपित से।

नियति चलाती कर्म चक्र यह }
तृष्णा जनित ममत्व वासना ;
पाणि-पादमय पंच-भूत की
यहाँ हो रही है उपासना। }

यहाँ सतत संघर्ष, विफलता
कोलाहल का यहाँ राज है ;
अंधकार में दौड़ लग रही
मतवाला यह सब समाज है।

स्थूल हो रहे रूप बना कर
कर्मों की भीषण परिणति है ; अन्त
आकांक्षा की तीव्र पिपासा !
ममता की यह निर्मम गति है।

यहाँ शासनादेश घोषणा
विजयों की हुंकार सुनाती ;
यहाँ भूख से विकल दलित को
पदतल में फिर फिर गिरवाती।

यहाँ लिये दायित्व कर्म का
 उन्नति करने के मतवाले ;
 जला जला कर फूट पड़ रहे
 दुल कर बहने वाले छाले ।

यहाँ राशिकृत विपुल विभव सब
 मरीचिका से दीख पड़ रहे ;
 भाग्यवान बन क्षणिक भोग के
 वे विलीन, ये पुनः गड़ रहे ।

बड़ी लालसा यहाँ सुयश की
 अपराधों की स्वीकृति बनती ;
 अंध प्रेरणा से परिचालित
 कर्त्ता में करते निज गिनती ।

प्राण तत्व की सघन साधना
 जल, हिम उपल यहाँ है बनता ;
 प्यासे घायल हो जल जाते
 मर मर कर जीते ही बनता ।

यहाँ नील लोहित ज्वाला कुब्र
 जला गला कर नित्य ढालती ;
 चोट सहन कर रुकने वाली
 धातु, न जिसको मुत्यु सालती ।

मेधा

वर्षा के घन नाद कर रहे ,
तट कूलों को सहज गिराती ;
प्लावित करती वन कुञ्जों को
लक्ष्य प्राप्ति सरिता बह जाती । ”

राशिभूष
एकत्रित

“ वस ! अब और न इसे दिखा तू
यह अति भीषण कर्म जगत है ;
श्रद्धे ! वह उज्ज्वल कैसा है
जैसे पुञ्जीभूत रजत है । ” चंदा

“ प्रियतम ! यह तो ज्ञान क्षेत्र है
सुख दुख से है उदासीनता ;
यहाँ न्याय निर्मम, चलता है
बुद्धि चक्र, जिसमें न दीनता ।

अस्ति नास्ति का भेद, निरंकुश ^{कठोर} तर्क युक्त
करते ये अणु तर्क युक्ति से ;
ये निस्संग, किन्तु कर लेते
कुछ सम्बन्ध-विधान मुक्ति से ।

यहाँ प्राप्य मिलता है केवल
तृप्ति नहीं, कर भेद बाँटती ;
बुद्धि, विभूति सकल सिकता सी
प्यास लगी है ओस चाटती ।

गर्मी

न्याय, तपस, ऐश्वर्य में पगे ^{कीन}
ये प्राणी चमकीले लगते ;
इस निदाघ मरु में, सूखे से
स्रोतों के तट जैसे जगते ।

मूलधातु

मनोभाव से कार्य-कर्म का
सम-तोलन में दत्त चित्त से ; ^{लगे हुए}
ये निस्पृह न्यायासन वाले ^{निष्काम}
चूक न सकते तनिक वित्त से । धन

अपना परिमित पात्र लिये ये
बूँद बूँद वाले निर्मर से ;
माँग रहे हैं जीवन का रस
घँठ यहाँ पर अजर अमर से ।

यहाँ विभाजन धर्म तुला का
अधिकारों की व्याख्या करता ;
यह निरीह, पर कुछ पाकर ही ~~इच्छाओं~~ सी सीर
अपनी ढीली साँसे भरता ।

उत्तमता इनका निजस्व है
अम्बुज वाले सर सा देखो ;
जीवन मधु एकत्र कर रही
उन ममाखियों सा बस लेखो ।

यहाँ शरद की धवल ज्योत्स्ना
अंधकार को भेद निखरती ;
यह अनवस्था, युगल मिले से
विकल व्यवस्था सदा बिखरती ।

देखो वे सब सौम्य बने हैं
किन्तु सशंकित हैं दोषों से ;
वे संकेत दंभ के चलते
मूचालन मिस परितोषों से ?

यहाँ अछूत रहा जीवन रस
छूओ मत संचित होने दो ;
बस इतना ही भाग तुम्हारा
तृषा ! मृषा, वंचित होने दो ।

सामंजस्य चले करने ये
किन्तु विषमता फैलाते हैं ;
मूल स्वत्व कुछ और बताते
इच्छाओं को झुठलाते हैं ।

स्वयं व्यस्त पर शांत बने से
शमस्त्र शास्त्र रक्षा में पलते ;
ये विज्ञान भरै अनुशासन
क्षण क्षण परिवर्तन में ढलते ।

यही त्रिपुर है देखा तुमने
तीन बिंदु ज्योतिर्मय इतने ,
अपने केन्द्र बने दुख-सुख में
भिन्न हुए हैं ये सब कितने ।

R.C. { ज्ञान दूर कुछ, किया भिन्न है
इच्छा क्यों पूरी हो मन की ;
एक दूसरे से न मिल सके
यह विडम्बना है जीवन की । ” R.C.

महा ज्योति रेखा सी बनकर
श्रद्धा की स्मिति दौढ़ी उनमें ;
वे सम्बद्ध हुए फिर सहसा
जाग उठी थी ज्वाला जिनमें ।

नीचे ऊपर लचकीली वह
विषम वायु में धधक रही सी ;
महाशून्य में ज्वाल सुनहली ,
सब को कहती 'नहीं नहीं' सी ।

शक्ति तरंग प्रलय पावक का अग्नि
उस त्रिकोण में निखर उठा सा ;
शृंग्र और डमरू निनाद बस
सकल विश्व में बिखर उठा सा ।

चिन्ताः १५० चितिमय चिता धधकती अविरल
महाकाल का विषम नृत्य था ;
विश्व रंघ्र ज्वाला से भर कर
करता अपना विषम कृत्य था ।

स्वप्न, स्वाप, जागरण भस्म हो निद्रा
इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे ;
दिव्य अनाहत पर निनाद में
श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे ।

आनंद

चलता था घीरे घीरे
वह एक यात्रियों का दल ;
सरिता के रम्य पुलिन में निहाल
गिरि पथ से, ले निज संबल ।

था सोमलता से आवृत
वृष धक्कल धर्म का प्रतिनिधि ; सफेद
घंटा बजता तालों में
उसकी थी मंथर गति विधि । मन्द

वृष रज्जु वाम कर में था
दक्षिण त्रिशूल से शोभित ;
मानव था साथ उसी के
मुख पर था तेज अपरिमित ।

केहरि किशोर से अभिनव
अवयव प्रस्फुटित हुए थे ;
यौवन गंभीर हुआ था
जिसमें कुछ भाव नये थे ।

चल रही इड़ा भी वृष के
दूसरे पार्श्व में नीरव ;
गैरिक वसना संध्या सी
जिसके चुप थे सब कलरव । ५ दिनांकी अष्टा

१३३६ संवत्
वस्म

उल्लास रहा युवकों का
 शिशु गण का था मृदु कलकल ;
 महिला मंगल गानों से
 मुखरित था वह यात्री दल ।

मूर्ख, दूरिण चमरो पर बोझ लदे थे
 वे चलते थे मिल अविरल ; गिरतार
 कुछ शिशु भी बैठ उन्हीं पर
 अपने ही बने कुतूहल ।

माताएँ पकड़े उनको
 बातें थीं करती जातीं ;
 'हम कहों चल रहे' यह सब
 उनको विधिवत समझाती ।

कह रहा एक था "तू तो
 कब से ही सुना रही है—
 अब आ पहुँची लो देखो
 आगे वह भूमि यही है ।

पर बढ़ती ही चलती है
 रुकने का नाम नहीं है ;
 वह तीर्थ कहों है कह तो
 जिसके हित दौड़ रही है ।"

“वह अगला समतल जिस पर
है देवदारु का कानन ;
घन अपनी प्याली भरते
ले जिसके दल से हिमकन ।

हाँ इसी ढालवें को जब ढालन
बस सहज उतर जावें हम ;
फिर सम्मुख तीर्थ मिलेगा
वह अति उज्ज्वल पावन-तम ।”

वह इड़ा समीप पहुँच कर
बोला उसको रुकने को ;
बालक था, मचल गया था
कुछ और कथा सुनने को ।

वह अपलक लोचन अपने
पादाग्र विलोकन करती ;
पथ प्रदर्शिका सी चलती
घीरे घीरे डग भरती ।

बोली, “ हम जहाँ चले है
वह है जगती का पावन ;
साधना प्रदेश किसी का
शीतल अति शांत तपोवन । ”

“ कैसा ? क्यों शांत तपोवन ?
विस्तृत क्यों नहीं बताती , ”
बालक ने कहा इड़ा से
वह बोली कुछ सकुचाती ।

“ सुनती हूँ एक मनस्वी
था वहाँ एक दिन आया ;
वह जगती की ज्वाला से
अति विकल रहा झुलसाया ।

उसकी वह जलन भयानक
फैली गिरि-अंचल में फिर ;
दावाग्नि प्रखर लपटों ने
कर दिया सघन वन अस्थिर ।

थी अर्धाग्निनी उसी की
जो उसे खोजती आयी ;
यह दशा देख, करुणा की—
वर्षा दृग में भर लायी ।

वरदान बने फिर उसके
आँसू, करते जग मंगल ;
सब ताप शांत होकर, वन
हो गया हरित सुख शीतल ।

गिरि निर्भर चले उछलते
छायी फिर से हरियाली ;
सूखे तरु कुछ मुसक्याये
फूटी पल्लव में लाली ।

वै युगल वहीं अब बैठे
 संसृति की सेवा करते ;
 संतोष और सुख देकर
 सब की दुख ज्वाला हरते ।

है वहाँ महाहृद निर्मल
 जो मन की प्यास बुझाता ;
 मानस उसको कहते हैं
 सुख पाता जो है जाता । ”

“ तो यह वृष क्यों तू यों ही
 वैसे ही चला रही है ;
 क्यों बैठ न जाती इस पर
 अपने को थका रही है । ”

“ सारस्वत नगर निवासी
हम आये यात्रा करने ;
यह व्यर्थ रिक्त जीवन घट
अमृत पीयूष सलिल से भरने ।

इस वृषभ धर्म प्रतिनिधि को
उत्सर्ग करेंगे जाकर ;
चिर मुक्त रहे यह निर्भय
स्वच्छंद सदा सुख पाकर ।”

सब सम्हल गये थे आगे
थी कुछ नीची उतराई ;
जिस समतल घाटी में, वह
थी हरियाली से छायी ।

श्रम, ताप और पथ-पीड़ा
क्षण भर में थे अंतर्हित ;
सामने विराट धवल नग
अपनी महिमा से विलसित ।

हृदय का
रस

उसकी तलहटी मनोहर
श्यामल तृण वीरुष वाली; कृता ॐ
नव कुंज, गुहा गृह सुन्दर
हृद से भर रही निराली ।

वह संजरियों का कानन कुछ विक्षिप्त कृता
कुछ अरुण पीत हरियाली; का स्मृति ।
प्रतिपर्व सुमन संकुल थे
छिप गई उन्हीं में डाली ।

सरोवर

यात्री दल ने रुक देखा
मानस का दृश्य निराला ;
खग, मृग को अति सुखदायक
छोटा सा जगत उजाला ।

merald
प्रतीक (१९५१)

मरकत की वेदी पर ज्यो
रक्ता हीरे का पानी ;
छोटा सा मुकुर प्रकृति का
या सोयी राका रानी । शरी

सूरज दिनकर गिरि के पीछे अब
हिमकर था चढ़ा गगन में ; यन्त्र
कैलास प्रदोष प्रभा में सन्ध्या की
स्थिर बैठा किसी लगन में ।

संध्या समीप आयी थी

उस सर के, वलकल वसना ; ५ स्त

तारों से अलक गुँथी थी

पहने कदंब^१ की रसना^२ ।

१. रुकुम
२. रुकुम

खग कुल किलकार रहे थे

कल हंस कर रहे कलरव ;

किन्नरियाँ बनी प्रतिध्वनि

लेती थी ताने अभिनव ।

मनु बैठे ध्यान निरत थे

उस निर्मल मानस तट में ;

सुमनों की अंजलि भर कर

श्रद्धा थी खड़ी निकट में ।

श्रद्धा ने सुमन बिखेरा

शत शत मधुपों का गुंजन ;

भर उठा मनोहर नभ में

मनु तन्मय बैठे उन्मन । उपट्टिआ

पहचान लिया था सब ने

फिर कैसे अब वे रुकते ;

वह देव-द्वंद्व द्युतिमय था

फिर क्यों न प्रणति में रुकते ।

तब वृषभ सोम-वाही भी
 अपनी घंटा ध्वनि करता ;
 बढ़ चला इड़ा के पीछे
 मानव भी था डग भरता ।

हाँ इड़ा आज भूली थी
 पर क्षमा न चाह रही थी ;
 वह दृश्य देखने को निज
 दग युगल सराह रही थी ।

चिर मिलित प्रकृति से पुलकित
 वह चेत्तन पुरुष पुरातन :-
 निज शक्ति तरंगायित था
 आनंद - अंबु - निधि शोभन ।

भर रहा अंक श्रद्धा का
 मानव उसको अपना कर ;
 था इड़ा शीश चरणों पर
 वह पुलक भरी गद्गद स्वर—

बोली—“ मैं धन्य हुई हूँ
 जो यहाँ भूल कर आयी ;
 हे देवि ! तुम्हारी ममता
 बस मुझे खींचती लायी ।

भगवति, समझी मैं ! सचमुच
कुछ भी न समझ थी मुझको ;
सब को ही भुला रही थी
अभ्यास यही था मुझको ।

हम एक कुटुम्ब बना कर यात्रियों का दर्
यात्रा करने हैं आये ;
सुन कर यह दिव्य तपोवन
जिसमें सब अध छुट जाये ।” पाप

मनु ने कुछ कुछ मुसकया कर
कैलास ओर दिखलाया ;
बोले “ देखो कि यहाँ पर
कोई भी नहीं पराया ।

हम अन्य न और कुटुम्बी
हम केवल एक हमी हैं ;
तुम सब मेरे अवयव हो
जिसमें कुछ नहीं कमी है ।

शापित न यहाँ है कोई
तापित पापी न यहाँ है ;
जीवन वसुधा समतल है
समरस है जो कि जहाँ है ।

} R.C.

चेतन समुद्र में जीवन
लहरों सा बिखर पड़ा है ;
कुछ छाप व्यक्ति गत, अपना
निर्मित आकार खड़ा है ।

इस ज्योत्स्ना के जलनिधि में
बुद्बुद सा रूप बनाये ;
नक्षत्र दिखायी देते
अपनी आभा चमकाये ।

वैसे अभेद सागर में
प्राणों का सृष्टि - क्रम है ;
सब में घुल मिल कर रसमय
रहता यह भाव चरम है ।

अपने दुख सुख से पुलकित
यह मूर्त विश्व सचराचर ;
चिति का विराट वपु मंगल
यह सत्य सतत चिर संदर ।

श.र.

} R.C.

सब की सेवा न पराई
वह अपनी सुख संसृति है ;
अपना ही अणु अणु कण कण
द्वयता ही तो विस्मृति है ।
मैं की मेरी चेतनता
सबको ही स्पर्श किये सी ;
सब भिन्न परिस्थितियों की
है मादक घूँट पिये सी

जग ले उषा के दृग में
सो ले निशि की पलकों में ;
हाँ स्वप्न देख ले सुन्दर
उलझन वाली अलकों में—
चेतन का साक्षी मानव
हो निर्विकार हँसता सा ;
मानस के मधुर मिलन में
गहरे गहरे धँसता सा ।

१८-८
श्रीवदशर्मि { सब भेद भाव भुलवा कर
दुख सुख को दृश्य बनाता ; समझ बनाता है ।
मानव कह रे ! 'यह मैं हूँ'
यह विश्व नाई बन जाता ! " } अष्टम

Philosophy.

श्रद्धा के मधु अधरो की
छोटी छोटी रेखाएँ ;
रागारुण किरण कला सी
विकसी बन स्मिति लेखाएँ ;

Latent Mars

विश्वेश्वर
Himalayas,

वह कामायनी जगत की
मंगल कामना अकेली ;
थी ज्योतिष्मती प्रफुल्लित
मानस तट की बन बेली ।

} Imp.
R.C.

वह विश्व चेतना पुलकित
थी पूर्ण काम की प्रतिमा ;
जैसे गंभीर महा-हृद
हो भरा विमल जल महिमा ।

जिस मुरली के निस्वन से
यह शून्य रागमय होता ;
वह कामायनी विहँसती
अग जग था मुस्वरित होता ।

क्षण भर में सब परिवर्तित
अणु अणु थे विश्व कमल के ;
पिंगल पराग से मचले
आनंद सुधा रस छलके ।

अति मधुर गंधवह बहता
परिमल बूँदों से सिंचित ;
सुख स्पर्श कमल केसर का
कर आया रज से रंजित ।

जैसे असंख्य मुकुलों का
मादन विकास कर आया ;
उनके अछूत अधरों का
कितना चुंबन भर लाया ।

रुक रुक कर कुछ इठलाता
जैसे कुछ हो वह भूला ;
नव कनक - कुसुम - रज धूसर
मकरंद जल्लद सा फूला ।

जैसे वनलक्ष्मी ने ही
बिखराया हो केसर रज ;
या हेमकूट हिम जल में
झलकाता परछाईं निज ।

संसृति के मधुर मिलन के
उच्छ्वास बना कर निज दल ;
चल पड़े गगन आँगन में
कुछ गाते अभिनव मंगल ।

वल्लरियों नृत्य निरत थीं
बिखरीं सुगन्ध की लहरें ;
फिर रेणु रंभ से उठ कर
मूर्छना कहाँ अब ठहरे ।

गूँजते मधुर नूपुर से
मदमाते होकर मधुकर ;
वाणी की वीणा ध्वनि सी
भर उठी शून्य में झिल्ल कर ।

उन्मद माधव मलयानिल
दौड़े सब गिरते पड़ते ;
परिमल से चली नहा कर
काकली, सुमन थे झड़ते ।

मधुर, वल्लरी

सिकुड़न कौशेय वसन की
थी विश्व सुन्दरी तन पर ;
या मादक मृदुतम कंपन
छायी संपूर्ण सृजन पर ।

सुख सहचर दुःख विदूषक
परिहास पूर्ण कर अभिनय ;
सब की विस्मृति के पट में
छिप बैठा था अब निर्भय ।

थे डाल डाल में मधुमय
मृदु मुकुल बने झालर से ;
रस भार प्रफुल्ल सुमन सब
धीरे धीरे से बरसे ।

हिम खंड रश्मि मंडित हो
मणि दीप प्रकाश दिखाता ;
जिनसे समीर टकरा कर
अति मधुर मृदंग बजाता ।

संगीत मनोहर उठता
मुरली बजती जीवन की ;
संकेत कामना बन कर
बतलाती दिशा मिलन की ।

प्रानंद
११/१२/१९३३
११/१२/३३
११/१२/३३

रश्मियाँ बनीं अप्सरियाँ
अंतरिक्ष में नचती थीं ;
परिमल का कन कन लेकर
निज रंगमंच रचती थीं ।

मांसल सी आज हुई थी
हिमवती प्रकृति पाषाणी ; पथरी की -
उस लास रास में विह्वल मंगलमयी
थी हँसती सी कल्याणी ✓

वह चन्द्र किरीट रजत नग
स्पन्दित सा पुरुष पुरातन ;
देखता मानसी गौरी
लहरों का कोमल नर्तन ।

प्रतिफलित हुई सब आँखें
उस प्रेम ज्योति विमला से ;
सब पहचाने से लगते
अपनी ही एक कला से ।

सुमरस थे जड़ या चेतन
सुंदर साकार बना था ;
चेतनता एक विलसती
आनंद अखंड घना था ।

R.C



